भुखमरी का स्त्रीलिंग

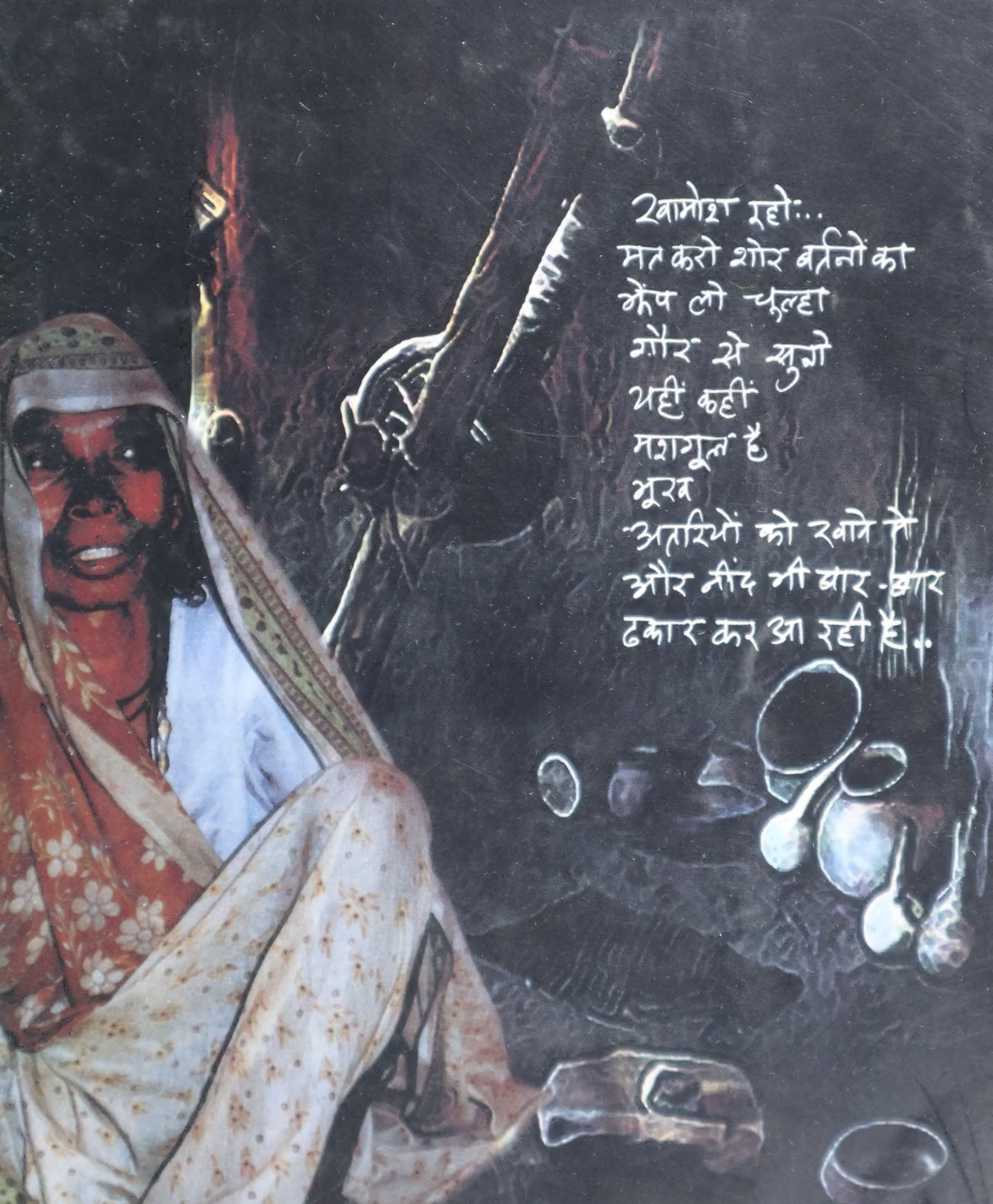

सचिन कुमार जैन

11373

11373
CPHE.

COMMUNITY HEALTH CELL
LIBRARY
AND
INFORMATION
CENTRE

भुखमरी का स्त्रीलिंग

सचिन कुमार जैन

ISBN: 81-89164-15-5

भुखमरी का स्त्रीलिंग

दूसरा संस्करण : 2006

सर्वाधिकार © विकास संवाद और सचिन कुमार जैन
ई–7/226, प्रथम तल, अरेरा कॉलोनी,
शाहपुरा, भोपाल, मध्यप्रदेश।
फोन : 0755–5252789

आवरण चित्र : सचिन कुमार जैन

आवरण : इरफ़ान

टाइपिंग: मनोज गुप्ता

प्रकाशक : बुक्स फॉर चेंज
सी–75, साऊथ एक्सटेंशन, पार्ट – II
नई दिल्ली–110049
फोन : (011) 5164 2348, 2349, 2350, 2351
मोबाईल : 9810841159
ईमेल : bfchindi@yahoo.co.in
mani@actionaidindia.org

मुद्रक : अर्पित प्रिंटोग्राफर्स

कीमत : 35.00 रुपये।

COMMUNITY HEALTH
LIBRARY
AND

अनुक्रम

भूमिका 5

भूख से नहीं, दुख से... 7

स्त्री हिंसा पर टिकी भूख 17

भूख से ममता हारी है... 22

मैला के चक्रव्यूह में 'रोटी' 25

औरत की 'रोटी' 30

भूख की 'राजनीति 40

वह एक पहेली 46

समर्पित!

उन आम लोगों को,
जिन्होंने
भेदभाव को पोसने वाली सत्ता को
चुनौती देने के सपने देखे
और संघर्ष को
जीवन का जरिया बनाया।

WH-100
11373 P06

"...लगता है कि इन कहानियों के बहाने
आप भुखमरी की राजनीति का
एक पक्ष देख पायेंगे
परन्तु शर्त यह है कि
आप निरपेक्ष न हों
आप पक्ष लें औरत का..."

भूमिका

भूख, अब भूख नहीं रह गई। उसकी भी जाति होती है, लिंग होता है। भूख की पीड़ा सबके लिए एक जैसी नहीं होती। यह पीड़ा केवल शरीर की भी नहीं होती।

देश के गोदामों में करोड़ों टन अनाज भरा हुआ है फिर भी गरीब, वंचित और आदिवासी भूख से मर रहे हैं, यह कह कर हमने सत्ता को अदालत के कटघरे में खड़ा कर दिया। दलील दी कि नागरिकों के संवैधानिक व मौलिक अधिकारों का हनन हो रहा है। अखबारों ने खबरें छापी। कवियों ने कवितायें गढ़ीं और अर्थशास्त्रियों ने आंकड़ों के ढेर लगा दिये। जो सड़क पर नारे लगा सकता था उसने गले की नसें खीचकर नारे लगाये।

मुझे लगता है कि यह सब करते हुये हम इस बात के लिये सजग थे कि समाज में पुरुष की सत्ता कहीं आहत न हो। देश के गोदामों की ओर एक ऊंगली उठाते हुये भी हमारा ध्यान अपने घर में मौजूद उसी चित्र की ओर उठी, बाकी तीन ऊंगलियों की ओर नहीं गया। इस चित्र में यह साफ नजर आ रहा था कि हमारे परिवार में हमारे साथ रहने वाली औरतों का भी यही सवाल है; पर वे यह तर्क खड़ा नहीं कर रही हैं कि जब घर में अनाज है तो तो मेरी थाली

खाली क्यों है? कोई मुझसे मेरी इच्छा क्यों नहीं पूछता है? क्यों अपनी सत्ता के लिये इंसानियत की छाती पर ही यह पितृसत्तात्मक समाज पैर रख देता है? दरअसल, जनकल्याण और समाज की परिभाषा ही भेदभाव की मिट्टी से गढ़ी गई हो तो समता कैसी?

ऐसी ही परिस्थितियों में भूख से मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहे, तमाम लोगों को साथ लेकर समाज के बुनियादी चरित्र को बदलने की कोशिश अभी शुरू होनी है, जिसमें भुखमरी के स्त्रीलिंग को देखा और पहचाना जायेगा। इस भेदभाव की सच्चाई को स्वीकार भी किया जायेगा।

यह पुस्तक वास्तव में मेरे खुद के चरित्र को समझने की कोशिश है। मेरे भीतर भी ये सवाल यूं ही नहीं जन्मे, कुछ साथियों ने झंझोड़कर जगाया है। मालिनी सुब्रह्मण्यम, श्रीरंग, जागोरी की आभा और सीमा ने आईने को साफ करने में मदद की है। हर्षमंदर, कविता श्रीवास्तव और ज्यांद्रेज ने मूल्यों के साथ रोटी के सवाल को जोड़ना सिखाया है। सहरिया आदिवासियों के जीवन से भूख की निरंतरता के मायने समझ आये। शिवपुरी में उमेश वशिष्ठ, राघवेन्द्र और नरेन्द्र ने इस समझ को तराशा।

बिराज ने छत्तीसगढ़ में इसे करीब से देखने का मौका दिया। आशा शुक्ला ने भाषान्तरण करने में तो मदद की ही, यह भी बताया कि संघर्ष भी असमता से मुक्त नहीं है। मीडिया के साथी नरेन्द्र कुमार सिंह, रमेश शर्मा, पुष्पेन्द्र पाल सिंह और गिरीश मिश्र ने कठोर व्यवस्था में प्रवेश करने की राहें दिखाईं। सुरेश मिश्र, निलेश देसाई, अंजना, राजेश मालवीय और अविनाश झाड़े ने भी आधार निर्माण में मदद की। संस्थागत रूप से एक्शनएड (भोपाल) का सतत् सहयोग अध्ययन के दौरान मिलता रहा। मेरा घर और मेरा काम ही प्रयोगशाला बने हैं, जहां परिवारवाले यंत्र बनकर मुझे ताकते रहे।

मैं एक दशक से अखबारों में लिख रहा हूं पर मेरी पुस्तक के प्रकाशन के लिए बुक्स फॉर चेंज ने जोखिम उठाया है। मैं मणिमाला का आभारी हूं। मुझे लगता है कि इन कहानियों के बहाने आप भुखमरी की राजनीति का एक पक्ष देख पायेंगे परन्तु शर्त यह है कि आप निरपेक्ष न हों, आप पक्ष लें, पर औरत का।

सचिन कुमार जैन

उसके मरने पर ही तो साजापाली में
तालाब गहरीकरण, सड़क
और स्टापडेम के काम शुरू हुए,
नहीं तो लोगों को मजदूरी ही नहीं मिलती।
...और इतने बड़े–बड़े लोग भी
तो यहां आये।
"बड़ी महान होती है भूख से मौत।"

भूख से नहीं, दुख से...

कितना अजीब लगता है यह सुनकर कि भूख का सौन्दर्य भी अद्भुत है। क्या भूख भी खूबसूरत होती है? अरे, होती क्यों नहीं? खूबसूरती है क्या? जिस पर बार–बार, चाहे–अनचाहे नजर पड़ ही जाये, वही तो खूबसूरती है! तो फिर भूखों पर से नजर हट सकती है क्या? कमबख्त दिल भी तो उसी से लगा हुआ है। सत्ता और समाज के लिये तो यह सबसे प्रिय भोग्या है। इसके बिना राजनीति बेचैन हो जाती है और समाज को अपने अस्तित्व की चिंता होने लगती है। सत्ता कभी समाज को भूख से मुक्त नहीं होने देगी। वह भूख को उस हद तक रहने देगी जिस हद से क्रांति की संभावनाएं कमजोर होना शुरू हो जाती हैं।

एक साथी सामाजिक कार्यकर्ता ने छत्तीसगढ़ से ऐसा बुलावा भेजा कि अगले दिन से मेरे प्राथमिकता के सारे काम ही पीछे छूट गये। मसला ही ऐसा था। पिछले पांच साल से भूख से मुक्ति के अधिकार के लिये काम करते हुए मैंने यही पाया है कि भूख एक सच्चाई है, मृत्यु उसका कड़वापन और दोनों का जुड़ाव समाज कभी स्वीकार नहीं करता है। मरने वाला तो मुक्त हो जाता

है पर कमबख्त भूख पीछा नहीं छोड़ती और लग जाती है पड़ोसी के पीछे। बेताल की तरह वह हमारे कंधे पर सवार है, उसके सवाल का जवाब दोगे तो सरकार के पेड़ पर जाकर फिर लटक जाती है और नहीं दोगे तो हमारा जीना मुहाल है।

साथी ने बताया कि साजापाली गांव में एक औरत के भूख से मरने की खबर है और तुम्हे एक स्वतंत्र जांच टीम के साथ जाना है, जानने कि सच्चाई क्या है? यह विडम्बना ही है कि भूख की खोजबीन करना मेरे जीवन का व्यवसाय बन गया है। खैर, सवाल तो कई हैं जिनके साथ मैंने अपने अगले दिन के जरूरी काम छोड़कर साजापाली जाना तय किया। 746 किलोमीटर ट्रेन की खटर–खटर यात्रा के बाद बिलासपुर से मुझे सड़क से 130 किलोमीटर चलकर रायगढ़ जिले के इस गांव में पहुंचना था। मुझे बिलासपुर में दो साथी, एक प्रतिष्ठित अखबार की पत्रकार आशा शुक्ला और सामाजिक कार्यकर्ता सिद्धेश्वर भाई मिले। सिद्धेश्वर बिलासपुर के ही हैं और उन लोगों के सम्पर्क में थे जो साजापाली पर नजरें गड़ाये बैठे थे। रास्ते भर जन आंदोलनों के बदलते स्वरूप से लेकर राजनीति के चरित्र तक हमने सब कुछ बांच डाला। इसी दौरान यह भी पता चला कि साजाटोला के मामले में सच्चाई विवादास्पद है। विवाद तो होना ही था, भूख से मौत निर्विवाद तो हो ही नहीं सकती।

यह गांव पहाड़ों के बीच तलहटी में बसे चालीस गांवों में से एक है। बिल्कुल कटोरेनुमा होने के कारण यह बरगढ़ खोला कहलाता है। पहाड़ की चढ़ाई शुरू होते ही श्याम भाई भी मिल गये, वही नजर गड़ाये रखने वाले लोगों में से एक। पहाड़ बिल्कुल अद्‌भुत थे, पर बाहर से बिल्कुल नंगे। वहीं चाय–भजिये की दुकान चलाने वाले बुजुर्ग बाबा बताते हैं कि पहले तो इनने हरे–हरे पेड़ों की चादर ओढ़ रखी थी, पर जमाने ने तार–तार कर दी।

हम पहाड़ चढ़ते गये और यह बात भी साफ होती गई कि भूख से मरने वाली राजनीति को अपनी चिता से गर्म कर गई। चारों ओर हलचल है। फिर जब पहाड़ से नीचे उतरने लगे, गांवों की तरफ तो अच्छे–खासे जंगल दिखाई दिये। कटोरा भीतर से अभी सुरक्षित था। श्याम भाई ने पूछा – पहले किससे मिलना चाहेंगे? तय हुआ कि पहले उस परिवार से ही मिला जाये। गांव तो अच्छा–खासा, साफ–सुथरा, लिपा–पुता दिखता था।

गांव में घुसते ही एक बड़ा सा तालाब था, पर सूखा हुआ या कहें कि बड़ी मेहनत से सुखाया हुआ। फिर वह घर, जिसमें इंसानी समाज की अमानवीय त्रासदी होने का विवाद था, हमारे सामने था। हम पांचों लोग बाहर खड़े हो गये और स्थानीय कार्यकर्ता परिवार से मिलने घर के भीतर

चले गये। तब तक बैठक–बिछोने की व्यवस्था होने लगी उसी महिला के घर के पड़ोस से कुर्सियां निकल आईं। अब तक हम तो खुले चबूतरे पर बैठ चुके थे। इतने सारे लोग शहर से पहुंचे थे तो एक साहब लुंगी लपेटे, गले में माला डाले अपना परिचय देते हुऐ आगे आये – मैं इस गांव का पटेल हूं। इन्हीं के यहां से कुर्सियां निकली थीं।

हम थोड़ी बहुत बात तो सुन ही चुके थे इसलिये परिवार की ओर ध्यान केन्द्रित कर लिया। स्वाभाविक है, हम तो जांच करने आये थे कि क्या मरने से पहले उसका वजन कम हुआ था, घर में खाने को था या नहीं; कपड़े कितने हैं... जैसे सवालों के जवाब खोजना हमारा मूल उद्देश्य था। अपने आप में अपमानजनक काम है यह।

'कौन है परिवार का?' तो सोन कुंवर बाई सामने आकर बैठ गई। वह बिसाहिन बाई की बहू थी। औरत बात करने सामने आई तो थोड़ा अचरज होना था। पिछले 18 दिनों में वह लगभग पूरी दुनिया को अपने सामने आते–जाते देख चुकी थी। इस अनुभव ने उसे बहुत परिपक्व भी बना दिया था। सबसे पहला वाक्य वह यही बोली– बीमार थी मेरी सास, पर मरी भूख से। सरकार ने तो नीला–पीला राशन कार्ड दे दिया; पर राशन आया–नहीं आया, यह पूछने कोई नहीं आया। अब सब चले आ रहे हैं।

एक किस्म का गुस्सा था सोनकुंवर के भीतर। टेरीकाट की पुरानी साड़ी से माथे तक घूंघट डालकर वह हमारे सामने बैठ कर गोबर से लिपी हुई जमीन को कुरेद रही थी। उसे पता था हमारे अगले सवाल क्या होंगे? उसने बोलना शुरू कर दिया– डेढ़ महीने पहले बीमार हुई थी। उसके नाम पर पीला राशन कार्ड था, दो रुपये किलो गेहूं और तीन रुपये किलो चावल लेने के लिये। पर लेते कहां से?

क्यो, राशन दुकान नहीं खुलती क्या? आशा शुक्ला ने पूछा तो उसने बहुत ही सहजता से अपनी बात बताई–यह राशन कार्ड और राशन दुकान ही तो बीमारी बन गई बिसाहिन की।

परिवार में हम आठ जन हैं। राशन दुकान वाला कलेश्वर गभेल छह महीने से मेरी सास का राशन कार्ड दबाये बैठा था। हर दो महीने में 16 किलो चावल दे जाता था, जबकि मिलने थे सत्तर किलो। कहता था, इतना ही सरकार दे रही है। अरे, सरकार का कोई ईमान–धरम है कि नहीं? गरीब का चावल खाकर ही उसका पेट भरता है क्या?

राशन तो राशन, यह कार्ड तो मौत का परमिट बन गया, साहब। हर रोज वो यही कहती थी पेट दुख रहा है, आंतों में मरोड़ उठ रही है। कहती थी

– भूख लग रही है। हम जो जंगली भाजी खाते थे वो उससे निगलते न बनती थी। उससे तो महुए की रोटी भी खाते न बनी। वह चाहती थी कि उसका पेट दबा रहे। कभी वह पेट पर चादर बांध लेती थी तो कभी घुटनों को मोड़कर छाती से कसके चिपका लेती थी।

धीरे–धीरे उसी गांव के ही नहीं, बल्कि आस–पास के गांव के लोग भी वहां जमा होकर हाथ पीछे बांधकर खड़े हो गये। उनकी अपनी कोई प्रतिक्रिया नहीं थी। वे तो निरपेक्ष भाव से भुखमरी का सौन्दर्य बोध कर रहे थे। कुछ विपक्षियों के मुखबिर भी थे ताकि सब कुछ सुनकर आगे की रणनीति बना सकें।

कोई नहीं चाहता था कि बिसाहिन को भरपेट रोटी मिल जाये, लेकिन कोई उसे भूख से मरने भी नहीं देना चाहता था। इससे बवाल खड़ा हो जाता। तभी तो हर माह पैंतीस किलो राशन के बजाय उसे तीन–तीन महीने में एक बार 20 किलो चावल राशन की दुकान से मिलता था। यह कर्मचारी भी जानता था, अफसर, नेता और ताकतवर भी। गांव की सत्ता में तो बिसाहिन भी भागीदार थी, पर पंचायत ने भी उसका साथ न दिया। बोला कोई नहीं, सभी उचित समय का इंतजार कर रहे थे। अब भी राशन की दुकान कलेश्वर गभेल के पास ही है। उसके लिये कोई नियम–कानून मायने नहीं रखता है। उसका दोस्त विधायक का खासम–खास जो है! फिर, चुनाव में उसने भी नेता जी की मदद बेफालतू थोड़े की थी।

बिसाहिन के पेट में अन्न नहीं था तो आंतें तो सुकड़नी ही थी। फिर संक्रमण हो गया और सूजन आने लगी। परिवार में सात सदस्य, पर काम के नहीं; बिसाहिन के बेटे यानी सोनकुंवर के पति को भी टीबी है। वो भी अपनी मां की राह पर ही है। सिद्धेश्वर भाई ने पूछा – बेटा नहीं है क्या? तभी लगभग 30 साल का निरंजन सामने आ गया। वह कोरबा जिले में मजदूरी करता है। 'क्या गांव में कुछ रकम भेजता है?' तिस पर उसने कहा मुझे भी तो चार जन को पालना है, हजार रुपये में क्या भेजूं? गांव में ही तीन साल पहले सड़क के काम में सात दिन मजदूरी की थी जिसका पैसा अभी तक नहीं मिला। सवाल पूछने जाओ तो ना तो पंचायत से जवाब मिलता है न अधिकारी से। अब तो मैं तारीख भी भूल चुका हूं।

बिसाहिन के लड़के मनोहर के शरीर को बीमारी ने कमजोर कर रखा है परन्तु मां की पीड़ादायक मौत ने उसकी आत्मा तोड़ कर रख दिया। कौन सा बेटा इस मौत को अंगीकार कर सकता है? हम पच्चीस लोग बात करते रहे परन्तु मनोहर गर्दन उठाकर एक बार भी कुछ नहीं बोला। वह ऐसा करने

की हिम्मत नहीं जुटा पा रहा था। गरीबी के पाप से खुद को मुक्त नहीं कर पा रहा था और औरत के कंधे पर भरे पूरे परिवार का बोझ डालना तो जैसे पुरुष के लिये जन्मों के बुरे कर्मों का परिणाम भुगतने जैसा है। इस सबके बावजूद वह बीमार आदमी किसी सरकारी योजना का पात्र नहीं बन पाया क्योंकि उसका परिवार है, वह निराश्रित नहीं है और सबसे बड़ी बात–वह अभी जिन्दा है।

इसी बीच मुनुराम पटेल ने कहना शुरू कर दिया – बिसाहिन की जब बहुत तबियत खराब हुई तो गांव के लोग ही उसे खरासिया के सरकारी अस्पताल ले गये। मैं यह सुनकर निराश हो गया कि तब तो औरत को मरना ही था, पर स्थिति बदली। पटेल ने कहा कि वहां डॉक्टर साब ने इलाज किया। बात कुछ अधूरी रही तो मैंने पूछा– डॉक्टर साब रहते कहां हैं? तो बताया गया कि खरासिया में ही रहते हैं और अस्पताल भी खुलता है। मुझे तो यह सुनकर बहुत ही सुखद अहसास हुआ।

रमेश्वर ही लेकर गया था बिसाहिन को। पर उससे एक गलती हो गई। सरकारी दरवाजे से भीतर जाने के बजाय रमेश्वर डॉक्टर साब के निजी यानी खुद के दवाखाने से भीतर चला गया। शाम तक उन्होंने दो हजार रुपये का इलाज कर दिया। बिसाहिन के परिवार के साथ–साथ रमेश्वर की जमापूंजी इतने में ही डॉक्टर साब की भेंट चढ़ गई। पैसे खत्म होने का संकेत मिलते ही डॉक्टर साब ने भी स्टेथोस्कोप कान से हटाकर निर्णय दे दिया कि इन्हें तो सरकारी अस्पताल में दाखिल करना पड़ेगा। इतना सुनते ही वहां मौजूद बिसाहिन के रिश्तेदार सोचने लगे कि हम कब निजी अस्पताल में गये थे ? पर आधे घंटे में सच का तीतापन उनके मुंह में प्रवेश कर चुका था। बिना आपरेशन के उसका इलाज होना संभव ही नहीं था।

कागज के टुकड़ों से गरीबी की पहचान होती है। भूख से पैदा हुई उसकी पीड़ा के मायने न तो सत्ता के लिये है, न समाज के लिए। डॉक्टर साब ने फिर साफ कह दिया कि अगर आपरेशन कराना है तो कल सुबह आठ बजे तक गरीबी की रेखा का कार्ड ले आना तभी दवा–दारू होगी। अब मेरा सुखद अहसास कपूर बन कर काफूर हो चुका था और व्यवस्था का वही भयानक चेहरा सामने था। रमेश्वर गांव आया और सोनकुंवर को लेकर राशन दुकान के मालिक के पास गया क्योंकि राशन कार्ड तो उसकी जब्ती में था। उसने तत्काल राशन कार्ड तो दिया नहीं और उन्हें उल्टे पैर लौटा दिया। वह एक–दो के नहीं, 58 कार्ड अपने कब्जे में रखकर गरीबों का अनाज तिजोरी में भर रहा था। आठ बजे बिसाहिन की जिन्दगी का परमिट अस्पताल नहीं

पहुंचा और डॉक्टर ने बारह बजे उसे अस्पताल छोड़ने के निर्देश दे दिये।

बिसाहिन बाई घर आ गई पर पड़ोस के मुनुराम पटेल ने मामले को दूसरा ही रूप दे दिया। चालीस एकड़ खेत, चार ट्रैक्टर और बड़े से मकान के सम्पन्न मालिक मुनुराम का जोड़ राशन वाले कलेश्वर गभेल से ठीक नहीं बैठता था। फिर क्या था; उस बिसाहिन की तरफ से एक आवेदन लिखा कि – 'मुझे छह माह से कार्ड पर अनाज नहीं मिला है और कार्ड भी कलेश्वर के पास जमा है। मेरी भूख से मौत होने की आशंका है।' यह आवेदन अनुविभागीय अधिकारी के पास पहुंच गया। चार दिन बाद मुनुराम की आशंका सच हो गई। बिसाहिन बाई पेट दर्द से कराहते–कराहते पानी पी–पीकर चल बसी।

यूं तो पेट भरना इस परिवार के लिये उतना ही कठिन रहा है जितना कि चिकने पत्थर के ऊंचे पहाड़ पर चढ़ना। सोनकुंवर कहती है कि मार्च से मई के बीच बड़े और बच्चों, सबकी मेहनत से महुआ, अचार और तेंदू पत्ता से लगभग चौदह सौ रुपये उन्हें मिल जाते हैं। यह भी नकद नहीं मिलता। मजदूरी कब और कितनी मिलेगी यह कभी तय नहीं होता। कई बार तो काम नहीं मिलने पर रात रोटी की कल्पना में ही गुजारनी पड़ती है। चेंच की भाजी या नमकीन पानी के साथ महुए को कुचल कर बनाये गये रोटले से गुजारा चलाना पड़ता है। मजदूरी के अलावा और कोई काम सोनकुंवर को मिलता नहीं है। आखिर वह जात की धोबी जो है! धोबी किसी के आंगन तक ही अपने कदम ले जा सकता है। रसोई तक तो ब्राम्हण ही जाता है। सो, भरपेट रहता है। पहली कक्षा में पढ़ने वाला विक्रम रोज स्कूल इसलिये जाना चाहता है क्योंकि वहां चावल– दाल या सब्जी मिलती है। घर में तो बरसों कोई यह चखता नहीं है।

पोषण के नाम पर बच्चों की किलकारी आंगनबाड़ी के एक कटोरी दलिये और एक रुपये के मध्याह्न भोजन पर ही गूंजती है। फूले पेट और निस्तेज आंखों में स्वस्थ भविष्य तो किसी बच्चे में दिखता ही नहीं है। ननकी बाई कहती है कि रोज–रोज गांव में मांग कर गुजारा भी तो नहीं हो सकता। जो कार्ड वाले हैं उनकी तो कोई जात भी नहीं मानता; वो तो हांके जाते हैं, मौका चाहे चुनाव का हो या शादी का।

वहीं बैठी दशमत बाई बोली– बूढ़ों के लिये भी ऐसे ही स्कूल चले। अकेले–निराधार बूढ़ों के पेट में कुछ तो जाए। दशमत भी अकेली है। बेसहारा है। उसकी डेढ़ सौ रुपये की पेंशन का एक चौथाई हिस्सा तो पंचायत सचिव की सेवा में ही अर्पित हो जाता है। अनपढ़ है दशमत। तीन महीने में एक बार पेंशन लेने आती है। लेकिन पेंशन मिलता है दो महीने का। दो महीने की

पेंशन देकर सचिव चंद्रकुमार चौदहवीं के चांद हो जाते हैं। अरे हां, बिसाहिन बाई को भी तो मिलती थी निराश्रित पेंशन, पर कहानी यही है।

यूं ही पैदल चलते–चलते मैं, आशा बहन, सिद्धेश्वर भाई, श्याम और शिरोमणी यही चर्चा कर रहे थे कि आखिर गरीब की डेढ़ सौ रुपये की पेंशन गांव के सबल जनप्रतिनिधि पचाना क्यों चाहते हैं? उनके पास तो काम–धंधा हैं, कई एकड़ जमीन और मवेशी हैं, सत्ता है, साधन है, सब कुछ तो है! काफी देर बाद यह थोड़ी स्पष्टं हुई कि सवाल छोटी या बड़ी राशि का नहीं है। गांव की अर्थव्यवस्था में अब भी विनिमय यानी वस्तु का लेन–देन ही होता है। मजदूरी के बदले नकद नहीं, अनाज या बासी खाना ही मिलता है। सम्पन्न लोगों के लिये तो यह सूखी–सूखी बचत है। यह कौन सोचता है कि वे गरीब का हक मार रहे हैं। वे तो यह मानते हैं कि सरकारी पैसा है, जिसके हाथ पड़ जाये वही उसका मालिक है। हाथ तो ताकतवर का ही पड़ेगा। सरकार भी यहां निरीह ही है क्योंकि सत्ता का चरित्र तो समाज ही तय करता है। सत्ता तो आईना है समाज का।

आंतों की यह अकड़न इन दो तक ही सीमित नहीं है। गांव में सोलह और भी ऐसे बूढ़े हैं। उन्हें तो डेढ़ सौ रुपये की पेंशन भी नहीं मिलती है क्योंकि सरकार दिल्ली में बैठकर कोटा तय करती है कि दूर दराज के साजापाली गांव में कितने गरीब–भूखे बूढ़े हैं।

बिसाहिन बाई के दर्द की धारा में सोनकुंवर के दर्द की नहर कब आकर मिल गई किसी को पता ही नहीं चला। वह बोली– मैं अकेली मजदूरी करने वाली, मर्द के हाल बेहाल और सास का पेट और पीठ थे कि एक हुए जा रहे थे। बच्चों को स्कूल और आंगनबाड़ी का आसरा है, नहीं तो उनके भी कंकाल पर चमड़ी की चादर चढ़ गई होती। अभी नाक तो बहती ही है, आंख में कीचड़ और बाल रूखे हैं। कहीं खांसी–दस्त हो गये तो इन्हें भी संभाला न जायेगा।

यह तो नजर आ ही रहा था, पर सोनकुंवर की एक दुविधा यह थी कि घर में खाने को अन्न नहीं था पर नाते-- रिश्तेदार सास को देखने चले आ रहे थे; उन्हें क्या खिलाये? इसी दबाव में वह दोहरी हुई जा रही थी कि लोग क्या कहेंगे? डॉक्टर ने तो पहले ही कह दिया था कि बिसाहिन को दाल का पानी बार–बार पिलाओ। यह सुनकर ही उसके होश फाखता हो गये थे फिर भी महीने भर तक बनिये की दुकान से उधार ला–लाकर उसने सास को दाल का पानी पिलाया और छह सौ रुपये का कर्जा कर लिया। अब तो गिरवी रखने को भी घर में कुछ नहीं बचा।

पेंशन की शिकायत न बिसाहिन ने की, न ही दशमत ने। वह कह रही

थी, "जो मिल रहा है, सचिव उसे भी बंद करा देगा, उनकी कृपा है जो मिल रहा है, नहीं तो नकद तो देखने को भी नहीं मिलते हैं। लोग बचा–खुचा खाना दे देते हैं कुछ और नहीं। मुझे तो पूरा राशन मिल जाता है।" यह कह कर दशमत फिर बैठ गई। इस बार श्याम भाई ने पूछा – कितना राशन मिलता है। वह अपने घर में जाकर एक पर्ची उठा लाई जिस पर पैंतीस किलो चावल और पांच लीटर कैरोसीन देने की बात लिखी हुई थी। सब आश्चर्यचकित थे क्योंकि सवाल यह था कि दुकान साजापाली से चार किलोमीटर दूर गांडापाली में था, वहां से सत्तर साल की बूढ़ी औरत 40 किलो का बोझ ढोकर कैसे लाती है? यही सवाल गांव के लगभग हर गरीब परिवार के साथ जुड़ा हुआ था।

ये लोग जो कुछ खा रहे थे उस हिसाब से तो वे गरीबी की परिभाषा से कहीं दूर बैठे हुए हैं– असहाय! बिसाहिन बाई की स्थिति इतनी खराब थी कि मुनुराम ने उन्हें चार–पाँच जोड़े पुराने कपड़े दिये थे। मुनुराम का यह दान उसके लिये अभिशाप भी बन सकता है क्योंकि चार जोड़ा से ज्यादा कपड़े रखने वाला सरकारी नीति में गरीब नहीं माना जाता है; ऐसा दिल्ली में तय हुआ है।

खुशहाली और योजनाओं का लाभ दिलाने का वादा करके शोभाराम सरपंच बने, पर उन्हें नहीं पता कि पंचायत सचिव 35 गरीब वृद्धों की पेंशन में हेर–फेर कर रहा है। गांव की सत्ता के मायने सरपंच शोभाराम का व्यवहार परिभाषित कर देता है। वह बेहद लापरवाही से यह सूचना देता है कि मुझे नहीं मालूम गांव में कौन–कौन गरीब है, और किसे सरकार की सहायता मिलती है। ये सब बताना सचिव का काम है। परन्तु उसकी और वहीं मौजूद उसके परिवार से ही पहले सरपंच रहे सजन की हवा उस वक्त पतली हुई जब आशा शुक्ला ने यह बताया कि बैंक से राशि तो आपके ही साईन से निकली है और जब जांच होगी तो आपकी अकड़ से काम चल नहीं पायेगा। फिर पहली बार शोभाराम ने हमारे हाथ से ननकी बाई की पेंशन की किताब लेकर देखना शुरू किया। वह टटोल रहा था कि अभी वह अपनी लापरवाही से कितने दलदल में फंसा है।

पंजे वाले भूपेन्द्र बाबू भी अपनी मोटर साईकिल से वहां पहुंच ही चुके थे और सरपंच से बात करते हुए इतना तो हमें सुनाई दिया ही कि ये सचिव तो मरवा देगा, अब जरा देखना पड़ेगा।

गांव के गरीबों के राशन कार्ड कलेश्वर के कब्जे में होने के मामले ने उन्हें नहीं झकझोरा। तब तो नये–पुराने सरपंच यही दोहरा रहे थे– हमारे पास तो कोई फरियाद लेकर नहीं आया, हम क्या करते? परन्तु जब संकट के बादल

खुद के सिर पर छाये तो बिना उमस के शरीर पसीने से चिपचिपा गया; मानो उनके भीतर भी नमक सत्याग्रह हो गया था। अब अगली ग्राम सभा में मामला कैसे जमे यह चर्चा वहीं खुली सड़क पर शुरू हो चुकी थी।

पिछले छह सालों में दरिद्र नारायणों को छह महीने का भी काम नहीं मिला क्योंकि पंजे और फूल की लड़ाई में कांटे निरीह लोग के जिस्म में चुभे हैं। फूल वाले मुनुराम पटेल ने तय कर रखा था कि वह राशन वाले कलेश्वर का खाना खराब करेगा और बिसाहिन की भूख उसका हथियार बन गई। अनुविभागीय अधिकारी को लिखे आवेदन पत्र में लिखी आशंका जब हकीकत में बदल गई तो बवाल मच गया। जनपद से लेकर राजधानी तक का प्रशासन हरकत में आ गया और गंभीरता से अपना दायित्व निर्वहन करते हुये भूख से मौत की घटना का खण्डन कर दिया। साथ ही राशन भी भिजवा दिया और रोजगार भी।

सुबह–सुबह खेत में ट्रेक्टर चलाते समय पटेल का मंझला बेटा खबर लेकर आया कि बिसाहिन बाई तो परलोक सिधार गई। बस पटेल ने भुखमरी की खबर वैसे ही फैलाई जैसे फूल की गंध फैलती है। यूं तो यह काम विपक्षी दल होने के नाते पंजे का था पर पेंच यूं उलझ गया कि जो विधायक इस गांव के हैं वो खुद पंजे वाले हैं। मुनुराम को पता नहीं था कि उन्होंने कितनी खतरनाक किस्म की बर्र का छत्ता छेड़ा है, राशन वाले को लपेटने के चक्कर में।

मुनुराम पटेल और कलेश्वर गभेल के बीच सामाजिक सत्ता के लिये संघर्ष है। इलाके में जो सम्पन्न होगा वह गोंटिया कहलायेगा। अभी खेती का बड़ा इलाका जोतकर और राशन दुकान चला कर कलेश्वर पहला गोंटिया है और मुनुराम दूसरा। पंचायत में बिना पद के नेता भूपेन्द्र वर्मा कहते हैं कि पटेल राशन दुकान गभेल से हथिया लेना चाहते हैं और जिस शिद्दत के साथ वह बिसाहिन बाई के परिवार को साधे हुये हैं उससे भी यही लगता है कि इस संघर्ष के लिये वे कमर कसे हुये हैं। हालांकि बिसाहिन के परिवार की छाया उनके आंगन से भीतर नहीं जा सकती है। उस परिवार के आने वाले कल की खाद्य सुरक्षा से उनके उतने सरोकार नहीं है पर पटेल को अपना भविष्य जरूर सुरक्षित करना है।

पटेल और गभेल तो अपनी राजनीतिक जंग में लीन हो चुके थे। पर इस जंग से सोनकुंवर को चैन नहीं मिलने वाला था। उसे दशकर्म का इंतजाम जो करना था। फिर गांव में घर–घर जाकर उधार मांग कर दशकर्म किया गया ताकि बिसाहिन की आत्मा को भूख से मुक्ति मिल सके।

अंतिम संस्कार भी हो गया पर अब कलेक्टर, अधिकारी, नेता, पत्रकार

सोनकुंवर के लिये नई चुनौती बनकर आये। पंजे से जुड़े हुये राशन वाले कलेश्वर का गुट तो पहले ही दिन उसे जाकर धमका आया। प्रशासनिक अधिकारियों को तो यूं भी सिखाया जाता है कि भूख से मौत नहीं होती, मौत तो आंतों की बीमारियों, टीबी या खांसी से होती है। कोई भूखा हो तो उसे नियम–कानून बताओ और भूख से मर जाये तो स्वीकार किये बिना अनाज उसके घर में भर दो। हर रोज, सुबह से शाम हर कोई इसलिये तफतीश कर रहा था ताकि बिसाहिन का भूत उनके जी का जंजाल न बन जाये। प्रशासन का तो दायित्व है इसे झुठलाना। यदि ऐसा नहीं होगा तो सर्वोच्च न्यायालय उसे दोषी मानेगा। पंजे वाले विपक्ष में भले हों पर यहां के विधायक उन्हीं के हैं, और फूल की तो राज्य में सत्ता है। बिसाहिन की मौत ऐसे में भूख से तो हो ही नहीं सकती है। अब मुनुराम पटेल को अपनी पतंग कटती दिखने लगी थी। जब हम उसके विशाल आंगन में बैठकर बात कर रहे थे तो वह एक नये विकल्प पर पहुंचा और बेचैन सी हंसी हंसते हुए बोला– मैंने यह थोड़ी कहा था कि बिसाहिन भूख से मरी है, वह तो दुख से मरी है, लोगों ने गलत सुन लिया।

इसके बाद प्रशासन ने एक सौ किलो अनाज और एक हजार रुपये सोनकुंवर के घर पहुंचा दिए। इसमें किसी आंवटन और कोटे की जरूरत नहीं पड़ी।

मुनुराम पटेल अब भी सक्रिय हैं। कहते हैं कि मैं तो बिसाहिन बाई का मंदिर बनवाना चाहता हूं। उसके मरने पर ही तो साजापाली में तालाब गहरीकरण, सड़क और स्टापडेम के काम शुरू हुए नहीं तो लोगों को मजदूरी ही नहीं मिलती! उसकी मौत की वजह से ही तो इतने बड़े–बड़े लोग भी यहां आये। वाकई, बड़ी महान होती है भूख से मौत!

वापसी का फिर वही रास्ता तय करते हुए मैं लगातार यही सोचता रहा कि अपने जीवन के इन 16 घंटों को मैं अभिव्यक्त कैसे करूंगा? खबर के उल्टे पिरामिड में तो विवाद आ जायेगा। क्या केवल बिसाहिन बाई की मौत में आंकड़े ही खोजने जरूरी हैं? अब तक के अनुभव में मेरा यह दिन भी जुड़ गया कि भूख से मौत नकार दी गई। यह नहीं नकारा गया कि उसके पास अनाज नहीं था। पेट में शून्यता थी जिसने उसकी सारी ऊर्जा को निगल लिया। फिर भी वह भूख से नहीं बीमारी से मरी... और तमाम यात्री बिसाहिन बाई के घर और गांव की यात्रा करके वापस आ गये।

OOO

सूख गई संवेदना, मरी मनों की टीस।
अब कोई रोता नहीं, एक मरे या बीस।।
मन गिरवी, तन बंधुआ, सांसें हुई गुलाम।
घुटन–भरे इस दौर में जिये कैसे राम।।

स्त्री हिंसा पर टिकी भूख

चप्पल पहनना भी दण्डनीय अपराध हो सकता है? हाँ! हो सकता है सहरिया आदिवासी सबसे पिछड़े समुदायों में शुमार होते हैं। इनमें एक ऐसी परम्परा का बड़ी शिद्दत के साथ पालन किया जा रहा है जो महिलाओं को उन्हीं के बीच दोयम दर्जा देती है। शिवपुरी जिले के खोड़ गांव की सहरिया बस्ती में गांव में ब्याह कर आई बहुएं कभी भी बस्ती में चप्पल पहनकर 'डिग' (यानी चलना) नहीं सकती हैं। गांव के बुजुर्ग गौरू बताते हैं कि यह मर्यादा की मानन (मान्यता) है। हमारी बस्ती माता समान होती है और महिला माता पर चप्पल पहनकर डिगे यह हमारे समाज को स्वीकार नहीं है। पुरुषों को बस्ती माता के मूड़ पर चलने की अनुमति होती है। यह माना जाता है कि गांव की कोई भी बेटी बस्ती में चप्पल पहनकर चल सकती है किन्तु ब्याह के बाद दूसरे गांव की बहू बन जाने पर वहां उसके लिए यह जीवन भर का बंधन हो जाता है कि वह कभी भी किसी भी परिस्थिति में चप्पल न पहने। शादी के बाद भी बहू को वहां पराया ही माना जाता है।

अब से कुछ समय पहले इसी गांव की फूलो बाई ने पैरों में घाव और

छाले होने को कारण बाहर जाते समय चप्पल पहनने का अपराध किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि गांव में हुए इस अपराध की जानकारी तत्काल जाति पंचायत के महतो (मुखिया) को दी गई। गांव के प्रधान ने गांव के सभी साठ परिवारों के मुखिया को उसी दिन जाति पंचायत की बैठक में आने का निमंत्रण दे दिया। बैठक में बहस का मुद्दा था फूलों के अपराध की सजा क्या हो? फूलो के पति मुन्नालाल आदिवासी बताते हैं कि जाति पंचायत की बैठक में मुझे बुलाया गया। वहां मैंने पंचों को बताया कि फूलो के पैरों में घाव होने और तपती गर्मी के कारण मैंने ही उसे चप्पल पहन लेने को कहा था। हमारा उद्देश्य जाति की परम्परा या मर्यादा तोड़ने का नहीं था। दो घंटे से ज्यादा समय तक बहस चली पर मुन्ना आदिवासी की एक भी दलील को स्वीकार नहीं किया गया। पंचों को यह मंजूर नहीं था कि फूलो को देख कर कोई और औरत यह अपराध करने के लिये प्रेरित हो। मुन्ना को फूलो के अपराध की सजा के रूप में तत्काल एक सौ रुपये के दण्ड के साथ ऐसी गलती न करने की चेतावनी दी गई। सहरिया आज सबसे विपन्न जनजाति मानी जाती है। जाति पंचायत ही समाज के सबसे अहम् निर्णय लेती है। इस पंचायत की बैठक में महिलाओं को उपस्थित रहने की अनुमति नहीं होती है। लगभग पचपन वर्षीय बुजुर्ग महिला साबो बाई कहती हैं कि चालीस साल पहले मैं ब्याहकर आई थी। तब से अब तक मैंने बस्ती में चप्पल नहीं पहनी है। डर यही रहा कि पंचायत डांड (दण्ड) लगा देगी। दण्ड नहीं चुकाये जाने पर अपराधी को 'छेंक' (जाति से बाहर) दिया जाता है। उसके सुख–दुख में कोई व्यक्ति सहभागी नहीं होता है। अपराधी के साथ सामाजिक व्यवहार खत्म कर दिया जाता है।

सहरिया गांवों में 'अथाई' (पंचायती चबूतरे) पर भी महिलाओं को चढ़ने की अनुमति नहीं होती है। उस पर केवल पुरुष ही बैठ सकते हैं। इसी चबूतरे पर जाति के पंच बैठकर न्याय करते हैं, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से यह महिलाओं के प्रति अन्याय का प्रतीक होता है।

यह परम्परा कितनी ठीक है? इस सवाल पर बुजुर्ग गौरू का कहना है कि मर्यादा बनाये रखने के लिये इसका पालन किया जाता है। बेटी तो अपनी होती है परन्तु बहू पराई होती है, उसका स्थान नीचा ही होता है। वे कहते हैं कि ऐसा नहीं है कि वह कभी भी चप्पल नहीं पहन सकती है। बस्ती से गुजरते समय चप्पलें उनके हाथ में होती हैं और बाहर निकलकर वह चप्पल पहन सकती। यहां स्त्री–पुरुष के बीच के भेदभाव को प्रत्यक्ष ही महसूस किया जा सकता है। वह जब तक जीवित रहती है तब तक घूंघट के साये

से बाहर आने का उसे कोई अधिकार नहीं है। बहरहाल भुखमरी और गरीबी के संकट ने उसे काम पर जाने का अवसर जरूर दिया है परन्तु उसमें भी भेदभाव होता है। बीस किलोमीटर चलकर जंगल से लकड़ी लाकर बेचने का दायित्व भी सहरिया महिला का ही है। फूलो की ओर देखते हुए मुन्नालाल आदिवासी कहता है कि ऐसी परम्पराएं टूटनी चाहिये। मर्यादा के नाम पर औरतों का शोषण करते हैं हम। यह भेदभाव उसे परिवार में रहते हुए भी दूरी बनाये' रखने के लिए मजबूर कर देता है। सहरिया मर्द की पीड़ा को कम करने के लिए स्त्री के पीड़ा को ज्यादा दर्दीला बनाना जरूरी है। चप्पल न पहनने की व्यवस्था वास्तव में न तो स्त्री के उत्पादन शक्ति पर प्रत्यक्ष नियंत्रण का प्रतीक है न ही उसकी प्रजनन शक्ति पर। यह समाज के जातिवादी स्वरूप का पीड़ित जाति की महिला पर पड़ने वाले हिंसात्मक स्वरूप का प्रमाण है। भावनात्मक हिंसा ज्यादा पीड़ा देती है। महिला के साथ इस किस्म की हिंसा वही करता है जिससे उसके भावनात्मक संबंध होते हैं और जिस पर विश्वास होता है।

सहरिया आज की व्यवस्था में गांव से बाहर एक टोला या मोहल्ला (सहराना) बनाकर रहते हैं। वे गांव की सामान्य व्यवस्था में शामिल नहीं होते हैं। यह व्यवस्था सहरिया आदिवासी समाज में हमेशा और हर जगह नहीं होती है। पर ग्वालियर–चम्बल के जिस इलाके में इनकी रिहाईश है वह सामंतवाद का गढ़ रहा है। यहां ठाकुर और ब्राह्मण के सामने दूसरे समुदायों के जीवन मूल्य कोई मायने नहीं रखते हैं। जब सहरिया इस गांव के अन्दर रहा करते थे तब यह तय था कि ठाकुर की गढ़ी के सामने से निकलते समय चप्पल उनके पैरों में नहीं, हाथ में रहे और गर्दन इतनी नीची हो कि ठोड़ी छाती को स्पर्श करे। सामंतवाद की सत्ता को बरकरार रखने के लिए ऊंची जातियों और वर्गों ने कमजोर सहरियाओं को बार–बार दमन का शिकार बनाया। सत्ता पर सामंतवादियों का हमेशा ही प्रत्यक्ष नियंत्रण रहा है। इसलिए सत्ता ने भी दमन की इस प्रक्रिया को पनपने दिया।

अपमान सहते–सहते उन्हें पीड़ा तो हुई और इस पीड़ा से बहुत कोमल प्रतिक्रिया भी हुई। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सहरिया गांव से बाहर निकल कर कुछ दूर एक अलग समूह के रूप में रहने लगे ताकि उनके आने–जाने या पानी भरने के लिये कुंए पर जाने के रास्ते ठाकुर की गद्दी के सामने से न निकलना पड़े। यह एक काम चलाऊ रास्ता है दमन से बचने का। सामंतवाद का शिकार सहरिया पुरुष अपमानित हुआ, यही अपमान सहरिया औरत का भी हुआ। गांव से सहराने में आकर पुरुष तो दमन से बचने लगा

पर उसे एक ऐसे वर्ग की जरूरत थी जिस पर वह अपनी सामंतवादी सत्ता चला सके। वह पितृसत्तात्मक व्यवस्था में अपनी भूमिका निभाना चाहता था। इसके लिए उसके पास केवल अपने परिवार की महिला ही थी। परिवार के बाहर तो वह खुद अपमानित हो रहा था। इस अपमान का बदला लेने के लिए उसे सहरिया औरत ही नजर आई।

पुरुष तो जातिगत सामंतवाद से ही पीड़ित है परन्तु औरत तो इसके साथ ही परिवार के सामंतवाद की दोहरी शिकार है। उसे निरन्तर भावनात्मक हिंसा का शिकार होना पड़ता है, क्योंकि यह हिंसा घर के लोग ही करते हैं। सामंतवादी व्यवस्था केवल जातियों के बीच ही नहीं होती है बल्कि समुदाय और परिवार के भीतर भी इसका एक व्यवस्थित ढांचा है, जिसमें हिंसा के निशाने पर औरत है।

शोषण तो हर सहरिया परिवार में है। पर शोषण का यह मुद्दा संगठनों और मीडिया ने शिवपुरी के खोड़ गांव से उठाया। मूल संदर्भ यह था कि इस आदिवासी समुदाय में महिलाओं के साथ समानता का व्यवहार नहीं किया जाता है और मान्यता के अनुसार सहराने (सहरिया बस्ती) में गांव की कोई भी बहू चप्पल पहनकर नहीं चल सकती है। आधुनिक विकास के इस दौर में भी महिलाओं को केवल व्यापक समाज में ही नहीं, बल्कि परिवार में भी दोयम दर्जा दिया जाता है। हम आंकड़ों, आय, उत्पादक और ऊपरी सम्पन्नता से कितना ही श्रृंगार कर लें परन्तु यह एक स्थापित तथ्य है कि अभी सामाजिक बदलाव की दिशा में गति उतनी सकारात्मक और तेज नहीं है। इस खबर से जिला प्रशासन सक्रिय हुआ। खोड़ गांव में प्रशासन तत्काल पहुंचा और साथ लाया था पंद्रह सौ रुपये की 60 जोड़ी चप्पलें। वहां हर महिला को चप्पल पहनाई गई और पूरे गांव में 'परेड' करवाई गई। शायद उन्हें यह लगा था कि सहरिया आदिवासियों की चप्पल खरीदने लायक आर्थिक स्थिति नहीं है। सरकार को दिशा देने और नीति बनाने वाले अफसर यह महसूस करने की जरूरत ही नहीं समझते कि परम्परा, मान्यता और सामाजिक व्यवहार के मुद्दे वास्तव में सामाजिक बदलाव की मांग करते हैं। दबाव या डंडे के जोर पर समाज के व्यवहार में बदलाव लाना संभव नहीं है। यदि ऐसा हो सकता तो जहां तानाशाही व्यवस्था होती है वहां कुरीतियां और सामाजिक दुर्व्यवहार पनपते ही नहीं। खोड़ गांव में एक अनुविभागीय पुलिस अधिकारी की नियुक्ति कर दी गई जो यह निगरानी करेगा कि हर महिला चप्पल पहने। परन्तु क्या इससे समुदाय के बुजुर्गों और जाति पंचायत (जो इस मान्यता और व्यवहार का पालन सुनिश्चित करते हैं) को संवेदित

किया जा सकेगा? क्या समाज के ये स्तंभ स्वयं पहल कर ऐसा व्यवहार खत्म करने के लिए कदम उठायेंगे? प्रशासन की इस पहल का दुष्प्रभाव यह हुआ है कि उस गांव में समुदाय के विकास और सामाजिक बदलाव के लिए प्रक्रियाबद्ध तरीके से काम करने वाले संगठन का काम और मुश्किल हो गया है। प्रशासन के इस तानाशाही पूर्ण व्यवहार के लिए कुछ हद तक सामाजिक कार्यकर्ताओं को भी जिम्मेदार माना जाने लगा है। प्रशासनिक अधिकारियों को यह समझना होगा कि इस तरह के सामाजिक मुद्दे धीमी और सुनियोजित संवाद आधारित प्रक्रिया से ही हल किए जा सकते हैं। यदि विश्वास और मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में समुदाय पर अपरिपक्व ढंग से दबाव बनाया जाता है तो इसकी गंभीर सामाजिक प्रतिक्रिया भी हो सकती है।

शिवपुरी के इस उदाहरण को विस्तार देने का एक उद्देश्य यह है कि सामाजिक बदलाव के लिये जिस संवाद और सहभागी नवाचार की जरूरत है, क्या उसे कभी भी सरकार और प्रशासन ने अपनी कार्य पद्धति – नीतियों का हिस्सा बनाया है? सरकार के महिला एवं बाल विकास विभाग, समाज कल्याण विभाग और ऐसे ही दूसरे विभागों ने सामाजिक बदलाव के लिये समुदाय के बीच बैठकर उनसे संवाद करने, उनके व्यवहार के पहलुओं को समझने की कोशिश कभी नहीं की। जब किसी भी माध्यम से ऐसे मामले उभरकर उनके सामने आते हैं तो वे उससे सीख लेने के बजाय अपने आपको दबाव में महसूस करते हैं और बहुत ही निराशाजनक व्यवहार का प्रदर्शन करते हैं। वे यह जताना चाहते हैं कि उनकी नजर में ऐसे मामले नहीं थे, अन्यथा वे अवश्य कार्रवाई करते। परन्तु सच्चाई यह है कि वे समुदाय के व्यवहार से भलि–भांति अवगत होते हैं। उनकी मंशा केवल औपचारिकता पूरी करने की होती है। यही औपचारिकाता खोड़ में भी पूरी हुई। जो सवाल खोड़ के उदाहरण से उठाया गया था वह केवल एक गांव का मामला नहीं था बल्कि पूरे सहरिया समुदाय के व्यवहार का मामला है। परन्तु प्रशासन ने केवल एक गांव में ही सक्रियता दिखाई क्योंकि मंशा औपचारिकता पूरी करने की थी। उनकी कार्य सूची में सामाजिक बदलाव का कहीं कोई स्थान नहीं है।

○○○

घास खोदते–खोदते
दिन ढल गया
अभी तक रोटी का अता–पता नहीं!
खोदते–खोदते
हड़्डियां श्मशान पहुंच गई
बस एक बलिश्त भर भेट के लिए!
• मु. श्रेखेड

भूख से ममता हारी है...

दरिद्रता की वह परिस्थिति कैसी होगी जिसमें घर में अन्न, हाथ में काम और सरकारी व्यवस्था में सवेंदनशीलता के उम्मीद में किसी मां ने भुखमरी से बचने के लिये अपने बेटे को बड़ी ही सहृदयता से एक सम्पन्न परिवार को भेंट कर दिया। भांठाडांड की तैरासा बाई पर समाज, सरकार, प्रकृति और किस्मत के चौतरफा प्रहार हुए हैं। इस महिला के सामने संकट यह है कि छह सदस्यों वाले परिवार के भरण–पोषण का दायित्व अकेले तैरासा बाई के कन्धों पर रहा है। हर रोज उसे यह उम्मीद रहती थी कि आज उसे न केवल काम मिलेगा बल्कि काम के बदले मजदूरी भी मिलेगी।

दाने–दाने को मोहताज तैरासा बाई ने डेढ़ साल पहले गांव के स्कूल की छपाई में छह दिन की मजदूरी की थी पर मजदूरी का भुगतान अब तक नहीं हुआ। इसके बाद तालाब बनते समय भी उसने चौदह खंती का काम किया। तीन महीने गुजर गये पर सरकार ने मजदूरी का भुगतान नहीं किया। तैरासा बाई के लिए सुप्रीम कोर्ट के उस आदेश के कोई मायने नहीं हैं जिसमें यह निर्देश है कि मजदूरों को काम के दिन से एक सप्ताह के भीतर मजदूरी का

भुगतान कर दिया जाना चाहिए। वह तो यही सोचती है कि गरीब का खून चूसने का दोष साहूकार के मत्थे ही क्यों मढ़ा जाता है। कानून बनाने वाले तो शोषण की कोई हद ही नहीं छोड़ते हैं। तैरासा का पति तपेदिक का मरीज है। वह अपने बीमार पति बाबुलिया पाव का मामूली इलाज भी नहीं करा पा रही हैं। जैसे–तैसे दो बेटियों की शादी की थी पर ससुराल में बीमारी के कारण उनकी भी मौत हो गई। तिस पर सूखे की मार ने तैरासा के सामने जीवनयापन के अवसरों के अकाल की स्थिति पैदा कर दी। दो साल पहले तक तो खेतों में मजदूरी करके पेट भर जाता था पर अब वह काम भी नहीं मिल रहा है। कभी–कभार गांव के लोगों के निजी काम से आसरा बंधा रहा। आज वह भी उपलब्ध नहीं है।

पिछले छह माह में कई रातें ऐसी गुजरी हैं जब भोजन के सपने देखकर उन्होंने सुबह का इंतजार किया है। विगत दिनों निगवानी की जनसुनवाई में गरीबी और सूखे पर अपनी कहानी कहने आई तैरासा बाई इस बात से चिंतित थीं कि घर में उनके पति को दो दिन से खाना नहीं मिला होगा। उम्मीद का सहारा लेते हुए सूखे में भी भूखे रहते हुए पेट काटकर इस महिला ने 20 किलो गेहूं इकट्ठा करके अपनी आधा एकड़ जमीन पर बोया था, पर बेचने लायक चारा भी हाथ नहीं लगा। लगातार तीन साल से यह आधा एकड़ जमीन तैरासा बाई से रूठी हुई है।

जीवनयापन के नाम पर वह मौसम में ढाई सौ रुपये का महुआ इकट्ठा कर पाती है। इसके बदले में बनिये से उन्हें उतनी ही मात्रा में नमक मिल जाता है। यह उनकी सबसे बड़ी जरूरत है। जब भूख सताती है और कहीं से गेहूं मिल जाता है तो वह गेहूं मिलने पर सौ ग्राम आटे में पाव भर पानी और तीन चुटकी नमक मिलाकर राबड़ी बनाती है। यही उनका एक मात्र सहारा होता है। अगर कभी चावल मिल जाता है तो उसका माड़ बनाकर वह चावल का पानी खुद पी लेती है और चावल अपने बेटे को खिला देती है। पेट भर भोजन मिले, ऐसे अवसर उसके जीवन में होली–दीवाली के त्यौहारों की तरह आते हैं। जब पेट की भूख असहनीय हो जाती है तो वह पैदल 10 किलोमीटर दूर अपने मायके टिकईटोला (खमरौध पंचायत) जाकर कुछ अन्नदान ले आती रही। अब वहां की स्थिति भी मिल–बांटकर खाने लायक नहीं रही।

तैरासा बाई की बात सुनते समय उस जगह पर मौजूद हर आदमी की आंखे नम थीं पर उस महिला के चेहरे पर हमेशा मुस्कराहट ही रही। मानों वह जिन्दगी के इस दांव को निष्प्रभावी कर देना चाहती है। स्थिति बहुत खराब

हो जाने पर उन्हें बहुत ही कठोर निर्णय लेना पड़ा। वह निर्णय था दस वर्षीय बेटे कमलेश को गांव के ही एक सम्पन्न परिवार (रामचरण) को सौंप देने का। स्कूल जाकर वर्णमाला सीखते–सीखते अब दो वक्त की रोटी के लिए कमलेश दिनभर जानवर चराता है और मां की बेबसी को दूर करने की कोशिश करता है। रामचरण ने भी सद्भावना ही रखी है फिर भी कमलेश तैरासा बाई के घर नहीं जाता है। जब उन्हें पता चलता है कि तैरासा के घर में कुछ दिनों से अन्न का एक दाना भी नहीं है तो खाना भिजवाकर कुछ पहल जरूर करते हैं। तैरासा बाई पुत्रदान के सम्बन्ध में कहती है कि पति औरे बेटे की भूख के आगे अब कुछ सोचते ही नहीं बनता है। उनका दूसरा लड़का आठ साल का रामप्रसाद एक कटोरी दलिये की चाहत में स्कूल जाता है पर क्या इससे पेट भरना संभव है?

वह लगातार कोशिश करती है कि कहीं न कहीं से कोई काम मिल जाये, इसके लिये वह पंचायत द्वारा बनाई जा रही सड़क पर भी पहुंची। उसे वहां से यह कहकर हटा दिया गया कि तुम यहां गोदी नहीं खोद पाओगी और हमारा काम नहीं होगा। भाठाडांड की सरपंच कौशल्या बाई का कहना है कि "सरकार के काम में तो नियम से ही चलना पड़ता है। हम तैरासा बाई को कोई मदद नहीं दे सकते हैं क्योंकि वह किसी योजना के लाभ की पात्र नहीं है।" इसका मतलब है कि जब तक वह बूढ़ी, लाचार, विकलांग, विधवा और निराश्रित नहीं होगी तब तक उसके प्रति समाज या सत्ता का कोई दायित्व नहीं होगा। तैरासा बाई का नाम गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले लोगों की सूची में तो है परन्तु दो साल पहले उनका राशन कार्ड पंचायत ने यह कहकर वापस ले लिया था कि नया कार्ड बनाया जा रहा है। तब से आज तक उन्हें सस्ते अनाज लेने का अवसर ही नहीं मिल पाया।

अपने पति का इलाज कराने के मामले मे वह कहती हैं कि इसका खर्च कैसे उठायेंगे। सरकार के बहुप्रचारित जन स्वास्थ्यरक्षक तैरासा बाई को यह नहीं बता पाये कि टीबी के इलाज में कोई खर्च नहीं होता है। फिर वह कहती हैं वहां पैसा लगे न लगे लेकिन सरकारी अस्पताल तक जाने के लिए भी तो पैसे चाहिए ही। संभव है कि अब तैरासा बाई के घर में बोरे – दो बोरे अनाज पहुंचा दिया जायेगा। पर सवाल यह है कि ऐसी स्थिति इंसानी समाज में पैदा ही न हो इसके लिए क्या हमारी अपनी कोई तैयारी है? लोग केवल अन्न के अभाव में भूखे नहीं मरते हैं, तिरस्कार और उपेक्षा भी भुखमरी को विस्तार देते हैं।

ООО

तथाकथित सभ्यता के युग से
इक्कीसवीं सदी तक पहुंचने
के सुख में
कितना दुख शामिल है
आधी आबादी का
इसको जाने बिना क्या समझा जा सकता है?
औरत होने का मतलब?
• महेंद्र सिंह

मैला के चक्रव्यूह में 'रोटी'

बरोठा गांव की सुमित्रा बाई जब शादी होकर अपनी ससुराल पहुंची थी तब उनकी सास ने उन्हें अपनी जागीर सौंप दी थी। उन्हें जागीर में मिला था 25 घरों का मैला ढोने का काम। असभ्य समाज में भी इस तरह की प्रथा का प्रचलन नहीं था पर विकसित होते समाज में बदस्तूर ऐसी प्रथा का पालन किया जा रहा है। इंसान से ही इंसान का मल साफ करवाया जा रहा है।

मैला ढोने का सबसे बड़ा कारण आर्थिक अभाव नहीं बल्कि सामाजिक असंवेदनशीलता है। इसे बंद करने के प्रयासों में प्रतिबद्धता की भी कमी रही है। सुमित्रा बाई ने खुद को इस पेशे के चक्रव्यूह से बाहर निकालने की जद्दोजहद की। अब से दो साल पहले उन्होंने मैला ढोने का काम बंद कर दिया था। उन्हें अन्त्यावसायी योजना के अन्तर्गत राष्ट्रीयकृत बैंक से वैकल्पिक रोजगार के लिये 20 हजार रुपये का ऋण भी मिला। वह खुश थीं कि अब उनके बच्चों को समाज में सम्मान मिलेगा और वह बेहतर जीवन जी पायेंगी। सुमित्रा बाई ने ऋण राशि से गांव में कपड़े की दुकान खोली; परन्तु मुक्ति का वह रास्ता किसी अंधेरी गुफा में जा पहुंचा। तीन माह तक हर रोज

सुमित्रा बाई बड़ी उम्मीद के साथ दुकान खोलती, पर इस दौरान गांव के किसी व्यक्ति ने उनके यहां से कपड़े का एक टुकड़ा तक नहीं खरीदा। गांव में यह बात प्रचलित हो गई कि सुमित्रा बाई मसान के कपड़े बेच रही है। आखिरकार उन्हें अपनी दुकान बंद कर देनी पड़ी। एक सुखद सपने का शुरुआत से पहले ही अंत हो गया। डेढ़ साल तक फिर भी वह अन्य विकल्पों की तलाश करती रही पर निराशा ही हाथ लगी। सुमित्रा बाई को एक बार फिर कच्चे शौचालयों की सफाई के काम की ओर कदम बढ़ाने पड़े। पहले एक प्रशासनिक अधिकारी और अब सामाजिक कार्यकर्ता की हैसियत से इस मुद्दे पर काम कर रहे हर्ष मन्दर कहते हैं कि यह सम्मान और गरिमा का सवाल है। कोई आर्थिक मदद या सरकारी योजना इसका जवाब नहीं खोज सकती है। अभी तक हम योजना आधारित पुनर्वास की कोशिशें करते रहे हैं, जबकि जरूरत सामाजिक बदलाव की है। इसमें दोतरफा पहल की जरूरत हैः एक तो मैला ढोने के काम में लगे लोग इस काम को छोड़ें और दूसरे स्तर पर समाज उन्हें समानता का दर्जा देते हुए बिना किसी भेदभाव के स्वीकार करे। विगत एक दशक में सरकार 144 करोड़ रुपये खर्च करके भी इन परिवारों को अमानवीय पीड़ा से मुक्ति नहीं दिला पाई है। उनके दावों का न कोई आधार है, न ही वे अपने काम को जवाबदेय ही मानते हैं।

मध्यप्रदेश में दलित समानता के लिए की गई पहल को दुनिया भर में ख्याति मिली है। राज्य सरकार के उसी दलित एजेण्डे में यह स्पष्ट रूप से दावा किया गया था कि अप्रैल 2003 तक प्रदेश के सभी शौचालयों को जलवाहित शौचालयों में बदलने का काम पूर्ण कर लिया जायेगा। पर आज भी मध्यप्रदेश में 78 हजार से ज्यादा शुष्क शौचालय हैं। इन्हें साफ करने में अठारह हजार लोग लगे हुए हैं। राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी आयोग के अनुसार भी मध्यप्रदेश के 16 जिलों में अभी व्यापक रूप से यह प्रथा चलन में है। सबसे अहम् बात यह है कि सरकार के स्तर पर किये गये प्रयासों में अभी भी सामाजिक सोच में बदलाव की कोशिशों का पूर्णतः अभाव है। शासन की कल्याणकारी योजना के अनुसार अस्वच्छ पेशों में लगे परिवारों के बच्चों को शिक्षा के लिए हर वर्ष साढ़े सात सौ रुपये की छात्रवृत्ति दी जाती है। इसके भी नतीजे विसंगतिपूर्ण रहे हैं। पन्ना जिले के बिसानी गांव की तीन महिलाओं ने जब यह पेशा छोड़ा तो उन्हें दूसरा काम करने के लिए प्रोत्साहन मिलना तो दूर, तत्काल उनके बच्चों को मिलने वाली छात्रवृत्ति भी बंद कर दी गई। उनमें से एक, अनिता वाल्मिकी कहती हैं कि उस छात्रवृत्ति से कम से कम बच्चों की किताबें और कपड़े तो आ ही जाते थे। अब तो वह मदद भी बंद

हो गई। सरकार मानती है कि मैला ढोने का काम बंद करते ही उन्हें दूसरे अच्छे काम मिल जाते हैं जबकि वास्तविकता यह है कि ऐसा करने से उनके दूसरे विकल्प भी छिन जाते हैं। देवास जिले की बागली तहसील की शांतिबाई कहती हैं कि हमें इस काम के एवज में हर घर से एक बासी रोटी और त्योहारों पर पुराने कपड़े मिलते थे। हम उनके गुलाम जैसे थे। इसलिए काम करवाने वाले हमारी कुछ मदद भी कर देते थे। जबसे यह काम छोड़ा है तब से हमारा तो जैसे सामाजिक बहिष्कार हो गया है। अब जरूरत पड़ने पर जब हम सवर्णों से रोटी या अन्य मदद मांगने जाते हैं तो एक भी परिवार हमारी मदद नहीं करता है। इतना ही नहीं, शांति बाई को यह कहकर मजदूरी पर नहीं लगाया गया कि तुम तो मैला ढोने वाले हो। तुमसे मजदूरी कैसे होगी? देवास के गंधर्वपुरी गांव की मुन्नी बाई से कहा गया कि जिन्होंने तुमसे मैला ढोने का काम छुड़वाया है अब उन्हीं से जाकर मदद मांगो। शिक्षा अब एक मौलिक अधिकार है। सरकार 14 वर्ष तक के बच्चों की निःशुल्क शिक्षा के लिए प्रतिबद्ध है। फिर भी हर जिले में सरकारी स्कूल में बच्चों से 30 रुपये प्रतिमाह शुल्क लिया जा रहा है। दलित परिवारों के सामने यह दुविधा की स्थिति है। सामाजिक संरचना पर वर्गभेद इस कदर हावी है कि व्यापक समाज यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है कि वाल्मिकी समाज इस अस्वच्छ पेशे से मुक्त हो। वहीं दूसरी ओर समाज (वाल्मिकी) के भीतर भी भेदभाव चरम स्तर पर है। मैला ढोने की प्रथा के उन्मूलन में लगे गरिमा अभियान के एक अध्ययन से पता चला है कि जिन 531 परिवारों का उन्होंने मध्यप्रदेश में सर्वेक्षण किया उनमें से 506 परिवारों में यह काम केवल महिलायें ही करती हैं। परम्परा यह है कि महिला विवाह के बाद जब अपने ससुराल पहुंचती है तो तत्काल उसे जागीरदारी में 20–25 घरों के मैला ढोने का काम मिलता है। अध्ययन का यह निष्कर्ष चौंकाने वाला है कि अस्पृश्यता और शोषण की पीड़ा भोग रहे दलित समुदाय की ही बलाई, चर्मकार, बरगुण्डा और बैरवा जाति के अस्सी फीसदी लोग यह मानते है कि वाल्मिकी समुदाय को यह करते रहना चाहिए। यह उनकी जिम्मेदारी है।

वास्तव में इस व्यवसाय के आर्थिक पहलू का विश्लेषण भी अपने आप में बहुत कुछ कहता है। अब तक यह माना जाता रहा है कि, चूंकि वाल्मिकी समाज के परिवारों को इस पेशे से आय होती है और इसी से वे जीवनयापन करते हैं इसलिए ये 18 हजार परिवार यह काम छोड़ना नहीं चाहते हैं। परन्तु आकलन से पता चलता है कि एक परिवार का मैला साफ करने के एवज में उन्हें 5 से 20 रुपये प्रतिमाह मिलते हैं। अधिकतम 25 घरों की सफ़ाई का

काम इनके पास रहता है। इस तरह इस गरिमाहीन पेशे से उन्हें प्रतिमाह 125 से 500 रुपये की ही आय होती है। त्योहारों या समारोहों के मौके पर उन्हें पुराने कपड़े और मिठाई भी मिल जाती है। टोंक की रेखा बाई कहती हैं कि मैं चार सौ रुपये कमाने के लिए बहुत बड़ी कीमत चुकाती हूं।

वाल्मिकी समाज अकल्पनीय छुआछूत को भोगता है। आज भी गांव या कस्बे की चाय की दुकानों पर उनके लिए पानी के गिलास और चाय के कप बिल्कुल अलग रखे जाते हैं। ये कप और गिलास साबुत भी नहीं होते हैं। देवास, पन्ना, होशंगाबाद, शाजापुर, हरदा और मन्दसौर के साढ़े तीन सौ गांवों में वाल्मिकी, बलाई एवं चर्मकार समाज के लोगों के बाल वहां के नाई नहीं काटते हैं। आमलाताज गांव के विष्णु वाल्मिकी कहते हैं कि हमें दाढ़ी बनवाने और बाल कटवाने के लिये एक बार में 65 से 70 रुपये खच करने पड़ते हैं। इसके लिए हमें 20 रुपये खर्च करके सोनकच्छ जाना पड़ता है। 15 रुपये दाढ़ी–कटिंग के देने होते हैं। समय इतना लगता है कि 35 रुपये की मजदूरी चली जाती है।

सरकारी स्तर पर अपरिपक्व नजरिये के कारण इसे बन्द करने के प्रयास सफल नहीं हो पा रहे हैं। राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी आयोग के सदस्य कहते हैं कि केन्द्र सरकार पिछले आठ सालों से लगातार राज्य सरकार को निर्देश दे रही है परन्तु यहां के प्रशासनिक अधिकारी संवेदनशीलता के साथ योजनाओं का क्रियान्वयन नहीं कर रहे हैं। अब तो यह निर्देश भी जारी कर दिया गया है कि यदि किसी जिले में एक भी व्यक्ति इस पेशे में संलग्न पाया जाता है और यदि वहां कानून के अनुसार कार्रवाई नहीं होती है, तो जिलाधिकारी को इस कोताही के लिए जिम्मेदार माना जायेगा। केन्द्र सरकार ने अब तक 13 गंभीर आदेश व दिशा निर्देश जारी किए हैं। साथ ही तीन कानून भी बनाए हैं। लेकिन उनकी निगरानी और मूल्यांकन के लिए कोई प्रयास नहीं किये हैं। इस प्रथा के उन्मूलन के प्रयास में क्रियान्वयन की जिम्मेदारी जिला प्रशासन की है। परन्तु इस संवेदनशील प्रथा के परिप्रेक्ष्य में बहुत ही असंवेदनशील तरीके से प्रयास हुए हैं। सरकार की अन्त्यावसायी योजना के अन्तर्गत अस्वच्छ कामों में लगी महिलाओं को किसी कला या अन्य कार्य के कौशल विकास के लिए छह माह का प्रशिक्षण दिये जाने का प्रावधान है। इसी के आधार पर होशंगाबाद की सोहागपुर तहसील में 30 महिलाओं को मूर्तिकला का प्रशिक्षण दिया गया। अब तक मैला उठाने वाले हाथ इतनी जल्दी यह कला सीख नहीं पाये। उन्होंने मांग की कि उनके प्रशिक्षण की अवधि और बढ़ा दी जाए। प्रशासन ने तत्काल यह कहते हुए इस जरूरत को नजरअंदाज

कर दिया कि शासन की योजनाओं मे यह प्रावधान नहीं है। परिणामस्वरूप उन महिलाओं को प्रशिक्षण मिलने के बाद भी उस सरकारी योजना का लाभ नहीं मिल सका। मध्यप्रदेश के पन्ना, देवास सहित 36 जिले दावा कर चुके हैं कि वहां मैला ढोने का काम बंद हो चुका है। सच्चाई यह नहीं है। वहां आज भी सत्तर हजार से ज्यादा कच्चे शौचालय मौजूद हैं। देवास के कमलापुर थाने में ही कई कच्चे शौचालय हैं। मध्यप्रदेश के सभी नगरीय निकायों में साफ–सफाई के काम में इसी समुदाय के लोगों को लगाया जा रहा है। वास्तव में व्यापक समाज के स्तर पर यह मानसिकता स्थापित हो चुकी है कि अस्वच्छता से सम्बन्धित किसी भी काम में इसी समुदाय को जिम्मेदारी दी जानी चाहिये।

गरिमा अभियान ने छह जिलों में अपने सघन प्रयासों से छह सौ महिलाओं को इस पेशे से मुक्त करवाया है। अब यह अनुभव सामने आने लगा है कि मैला साफ करने का काम छोड़ने वाली महिला पर यह काम फिर से शुरू करने का दबाव बहुत बढ़ रहा है। तीस महिलाओं ने फिर से यह काम अपना लिया है। कारण साफ है कि यह केवल एक पेशे को अपनाने या छोड़ने का मामला नहीं है बल्कि सामाजिक व्यवस्था के भेदवादी चरित्र को चुनौती देने का मामला है।

ooo

क्या मूल्य है
उगते सूरज से डूबते सूरज तक
हाड़तोड़ मेहनत का
औरत हुए बिना
क्या समझा जा सकता है?

• *महेंद्र सिंह*

औरत की 'रोटी'

भूख और गरीबी का जुड़ाव केवल आर्थिक पहलू से ही नहीं है। वास्तव में इसका सबसे अहम् पक्ष तो राजनैतिक सत्ता से जुड़ा हुआ है। सत्ता का अर्थ केवल मंत्री, मुख्यमंत्री, या प्रधानमंत्री बनना नहीं है बल्कि सत्ता का अर्थ है हम अपना समाज कैसा बनाना चाहते हैं? इसका सपना देखना, इस सपने को पूरा करने की इच्छा पैदा कर पाना, सपने को हासिल करने के लिये कदम बढ़ाना, निर्णय लेना, उसे क्रियान्वित करना और हर परिणाम की जिम्मेदारी लेना।

सत्ता वास्तव में हमें अपनी जरूरत को महसूस करके उन्हें पूरा करने के लिये कोशिश करने की आजादी देती है और चूंकि औरत को सत्ता की तरफ कदम नहीं बढ़ाने दिये गये हैं इसीलिए आज वह भरपेट रोटी भी हासिल नहीं कर पाती है।

यह तर्क बेमानी है कि गरीबी के कारण अनाज न होने से औरत भूखी रहती है। यदि ऐसा होता तो 90 प्रतिशत महिलाएं खून की कमी की शिकार नहीं होती। वास्तविकता यह है कि वर्ग कोई सा भी हो, उच्च वर्ग, मध्यम

वर्ग या निम्न वर्ग; सभी वर्गों की औरतों को उनकी जरूरत के अनुरूप पोषणयुक्त भोजन पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता है। मध्यप्रदेश का मानव विकास प्रतिवेदन, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ सर्वेक्षण के हवाले से बताता है कि प्रदेश में 20.3 फीसदी महिलायें ही हर रोज दूध या दही पाती हैं जबकि 43 फीसदी को ही दाल मिलती है। केवल 5 फीसदी महिलाओं को फल खाने को मिलते हैं। 0.9 प्रतिशत को अण्डे और आधा फीसदी औरतों को मांसाहार करने का मौका मिलता है।

यह आंकड़े केवल अर्थव्यवस्था की कोख से पैदा नहीं हुए हैं। सच यह है कि पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था औरत को शरीर और मन से इतना कमजोर बना देना चाहती है कि वह राजनैतिक सत्ता के लिए संघर्ष न कर सके और पुरुष का उनकी यौनिकता पर नियंत्रण बना रहे।

इन परिस्थितियों में जब औरत के भीतर एक असहनीय बेचैनी जन्म लेना शुरू करती है तब कहीं समाज में लैंगिंक भेदभाव को दूर करने के लिए संघर्ष की शुरुआत होती है।

आदिवासी या दलितों के लिए किया गया संघर्ष तो कई मौकों पर एक स्वीकार्य निष्कर्ष और परिणाम तक पहुंचा भी है परन्तु सत्ता में औरत की भागीदारी का संघर्ष अभी कहीं भी स्वीकार होता नजर नहीं आता है। उसे सत्ता में कहीं जगह मिली भी है तो इसी मुहावरे के साथ कि चलो, औरतों को भी हम पुरुष एक अवसर दे देते हैं। यह अवसर औरत को आगे बढ़ने के लिए नहीं बल्कि उसे मुख्यधारा में लाकर, उसके सामने कठिन परिस्थितियां खड़ी करके असफल साबित करने के लिए दिया जाता है। उसके साथ एक खेल खेला जाता है जिसमें जीतने का मौका देकर उसे हराने के लिए बिसात बिछाई जाती है। सत्ता की जटिल संरचना में हर स्तर पर पुरुषों का नियंत्रण है और ये पुरुष भी अवसर देने के उस षड्यंत्र का एक हिस्सा होते हैं। जिसकी रणनीति है, अवसर देकर विपरीत परिस्थितियां खड़ी करके औरत की चुनौती खत्म करना।

इस षड्यंत्र को हम सरपंच की हैसियत से पुरुष सत्तात्मक राजनीतिक व्यवस्था में कदम रखने वाली कौशल्या बाई की कहानी से जोड़कर देख सकते हैं। आदिवासी महिला कौशल्या बाई 1994 में शहडोल जिले की भाटाडांड पंचायत की पहली सरपंच बनी थी। उन्हें तब यह कतई अहसास नहीं था कि ग्रामसत्ता में उन्हें इतनी सुनियोजित भ्रष्टाचार आधारित व्यवस्था का सामना करना पड़ेगा। तब से अब तक उन्हें जिले के वरिष्ठ अधिकारियों से लेकर अपनी पंचायत के सचिव तक से हिस्सेदारी के मुद्दे पर तो लड़ाई

COMMUNITY HEALTH LIBRARY

लड़ना पड़ ही रहा है, साथ में पंचायतीराज कानून की विसंगतियों से भी जूझना पड़ रहा है। इसके बावजूद वह दुबारा मैदान में उतरीं और गांव ने उन्हें फिर से विश्वास के साथ पंचायत की जिम्मेदारी सौंप दी। इस बार उन्होंने चार प्रतिद्वंद्वियों को हराकर सत्ता संभाली है। इन दोनों चुनावों में सबसे अहम् परिवर्तन कौन सा आया? इस सवाल पर वह कहती हैं कि पहली बार मुझे चुनाव लड़वाया गया था और दूसरी बार मैंने खुद अपनी मर्जी से चुनाव लड़ा।

कौशल्या बाई ने तय किया है कि वह किसी भी सूरत में सत्ता को भ्रष्टाचार का केन्द्र नहीं बनने देंगी, इस कारण उन्हें प्रशासन के स्तर पर नियोजित साजिशों का सामना करना पड़ रहा है। नौबत यहां तक आ पहुंची है कि पिछले एक साल में उनकी पंचायत को अतिरिक्त विकास कार्यों के लिए कोई संसाधन उपलब्ध नहीं कराये गये हैं। पूर्व में भाटाडांड पंचायत को विकास कार्यों के लिए दस लाख रुपये तक के बजट आवंटित हुए हैं। उनके गांव में गरीबी चरम पर है। अब चूंकि काम नहीं आ रहा है इसलिए लोगों को भी अभावों का सामना करना पड़ रहा है। दुविधा में पड़ी कौशल्या बाई कहती हैं कि मेरे भ्रष्टाचार से लड़ने के कारण गांव के लोग भुखमरी की कगार पर आ गये हैं। मुझे समस्या यह आ रही है कि मैं कौन सा विकल्प चुनूं?

इस आदिवासी सरपंच के कटु अनुभवों की लम्बी फेहरिस्त है। उन्होंने अपनी पंचायत के सचिवों के कारण अपने आप को सबसे ज्यादा संकट में पाया है। उनके अब तक के कार्यकाल में तीन पंचायत सचिव आ चुके हैं, जिनमें से दो सचिवों ने भ्रष्टाचार करके उन्हें जिम्मेदार ठहराने की कोशिश की। हाल के सूखे के दौरान भाटाडांड पंचायत को भी काम के बदले अनाज योजना के अन्तर्गत संसाधन आवंटित किये गये थे। जैसा कि राहत कार्यों में आमतौर पर होता है, जो अनाज मजदूरी के रूप में वितरित किया जाना था, उसे पंचायत सचिव ने पूरी तरह से हड़पने की तैयारी कर ली थी। पंचायत को प्रशासन से राहत कार्यों के अन्तर्गत 76 क्विंटल चावल दिये जाने के आदेश आये थे। पूर्व में भी राहत काम के लिए भाटाडांड को आवंटन मिलता रहा है। उन मामलों में सचिव हमेशा सरपंच को अंधेरे में रखता रहा। कहता रहा कि मुझे हर बार खाद्य निगम के प्रबन्धक को सेवाशुल्क देना पड़ता है। जिस ट्रेक्टर से मैं अनाज लाता हूं उसका भाड़ा चुकाना पड़ता है। इसलिए आप चेक पर हस्ताक्षर कर मुझे राशि दो। पहले कौशल्या बाई उसे अपनी तरफ से व्यय राशि देती रही थी। इस बार जब 76 क्विंटल चावल

के आवंटन की बात आई तो कौशल्या बाई ने कहा कि मैं खुद जाऊंगी और चावल लेकर आऊंगी। पर सचिव नहीं माना। सरपंच को बिना सूचित किये चावल लेने चला गया। वह चावल तो ले आया परन्तु उसे पंचायत में न रखकर कहीं और रख दिया। फिर दिलीप कुमार शर्मा (सचिव) ने बिना सरपच के बैठक किये तालाब के निर्माण का काम भी शुरू करवा दिया। परन्तु जब मजदूरी बांटने की बारी आई तब उसे सरपंच के पास आना पड़ा। तब कौशल्या बाई ने यही कहा कि न तो चावल आने की बात मेरी जानकारी में लाई गई, न ही तालाब निर्माण की बात, इसलिए मैं तो अब यह जिम्मेदारी नहीं ले सकती हूं। फिर मैं खुद तालाब बनने वाली जगह पर गई, वहां मजदूर मुझसे मजदूरी मांगने लगे। तब मैंने एक ही बात कही कि पहले पूरा अवंटित अनाज मेरी पंचायत में पहुंचना चाहिए। इस पर सचिव पर दबाव बनने लगा तो उसे राहत कार्य का अनाज पंचायत में पहुंचाना पड़ा, परन्तु तब तक 76 में से 16 क्विंटल भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ चुका था। सरपंच ने भी लिखित में 60 क्विंटल अनाज प्राप्त होना स्वीकार किया।

कौशल्या बाई बताती हैं कि पहले सचिव ने भी पंचायत राशि में भ्रष्टाचार किया था। जांच करवा कर उन्होंने उसे पद से हटवाया था। इसके बाद प्रावधान यह आया कि पंचायत खुद ग्रामसभा के जरिये अपना सचिव चुन सकती है। क्योंटा गांव के दिलीप कुमार शर्मा को सचिव बनाया। इस व्यक्ति से उन्हें बहुत उम्मीदें थी परन्तु उसने तो महिला सरपंच को और ज्यादा संकट में डाल दिया। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि सचिव ने दो अलग–अलग तरह की कैश बुक बना रखी थी। ये कैश बुक अलग–अलग समय पर अलग–अलग उपयोग के लिए बनाई गई थी। एक कैश बुक में कौशल्या बाई पर 95 हजार रुपये की देनदारी दिखाई गई थी जबकि दूसरी कैश बुक में 1350 रुपये की। वह कहती हैं कि सचिव ने तो मेरा घर–बार बिकवाने की व्यवस्था कर दी थी। तब मैंने कलेक्टर और मुख्य कार्यपालन अधिकारी से शिकायत की। इससे आगे बढ़कर दिलीप शर्मा जब भी सरपंच से चेक पर हस्ताक्षर करवाता था तो काउंटर हस्ताक्षर के रूप में भी सरपंच से ही हस्ताक्षर करवाता था ताकि बाद में यह पता चले कि बैंक से धनराशि मैंने ही निकाली है। इस तरह वह पंचायत की राशि का व्यक्तिगत उपयोग करता रहा।

जिले की प्रशासनिक व्यवस्था के सन्दर्भ में उनके अनुभव और चौंकाने वाले हैं। उन्हें जनपद पंचायत और महिला–बाल विकास विभाग के विकासखण्ड अधिकारियों के स्तर पर भी भारी भ्रष्टाचार से दो–चार होना पड़ा। अपने

अनुभवों के आधार पर वह बताती हैं कि पंचायत के विकास के लिए राशि आवंटित कराने और किश्तें जारी करवाने के लिए हमेशा दस फीसदी कमीशन की मांग की जाती है। मैंने तय किया है कि मैं कोई कमीशन नहीं दूंगी, ऐसे में स्वाभाविक रूप से हमारा काम आसानी से नहीं होता है। भाटाडांड में पंचायत भवन बनवाने के लिए 1.10 लाख रुपये की राशि आवंटित हुई। उन्होंने भवन बनवा भी लिया। पर जब अधिकारी और इंजीनियर निरीक्षण के लिए आये तो उन्होंने भवन निर्माण के काम में नौ नुक्स निकाल दिये और कहा कि अगर जेल जाने से बचना हो तो कल 15 हजार रुपये लाकर ऑफिस में दे देना। अधिकारियों ने मुझसे यही कहा कि तुम क्यों इन चक्करों में पड़ी हो, सचिव को भेजना हम उसे समझा देंगे। फिर जैसा वह कहे वैसा तुम पंचायत में करना। अब यह मेरे लिये केवल सम्मान का ही नहीं, परिवार के अस्तित्व का भी सवाल बन गया। तब भी मैंने अफसरों और इंजीनियरों से यही कहा कि आप इसे तोड़कर देख लें, जांच करा लें, परन्तु मैं कमीशन नहीं दे सकती हूं क्योंकि पूरी राशि खर्च हो चुकी है। उसी दिन मैंने गांव के लोगों और पंचों के साथ बैठकर बात की, गांव वालों ने मुझे डटे रहने की सलाह दी और हमेशा साथ देने का वचन दिया। इसके बाद मुझे प्रशासन की तरफ से परेशान किया जाने लगा, बार–बार रिकार्ड लेकर जनपद बुलाया गया। मैं भ्रष्टाचार के प्रति उनकी प्रतिबद्धता से तंग आ गई। मुझे गांव का कोई व्यक्ति मदद करने के लिए तैयार नहीं था। कौशल्याबाई पर तो गांव के लोग विश्वास करते थे परन्तु महिला सरपंच के साथ अधिकारी के सामने खड़े होना उन्हें स्वीकार न था। मेरे लिए संघर्ष करना उतना कठिन नहीं था जितना कि अपने परिवार को छोड़कर अधिकारियों के चक्कर लगाना। इससे परिवार के लोगों में भी एक असंतोष सा पैदा होने लगा था। गांव के लोग भी यही सोचते थे कि चौके और बच्चों की जिम्मेदारी छोड़कर मैं राजनीति के मैदान में क्यों आ गई। चलो, सरपंच बन भी गई थी तो बजाए अधिकारियों की शर्त मानने के मैं उनसे लड़ने क्यों लगी। तब काफी सोच–विचार के बाद मैं अकेले सबसे पहले कलेक्टर से मिली। वहां से मुझे कोई ठोस कार्यवाही की संभावना नहीं दिखी। फिर मैं मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह से मिलने भोपाल जा पहुंची। पूरा वाकया सुनने के बाद उन्होंने मुझे मदद देने का वायदा किया। उसी वायदे के साथ कौशल्या बाई राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा और तत्कालीन प्रधानमंत्री पी. वी. नरसिंहराव के निजी सचिवों को भी अपने अनुभवों के दस्तावेज सौंप आई। वे कहती हैं कि नीति और कानून बनाने वाले लोगों को भी पता चलना चाहिए कि जमीनी स्तर पर विकेन्द्रीकृत

व्यवस्था में, काम करने वाली औरत को अभी वास्तव में अधिकार नहीं मिले हैं। अधिकार तो अब भी लाल फीते की गठानों में बंद है, और पंचायती राज व्यवस्था, प्रशासन–अफसरों की मर्जी से चलते हैं। इसके बाद जब तक कौशल्या बाई भोपाल और दिल्ली यात्रा से लौटती तब तक रिश्वत मांगने वाले अफसर का वहां से तबादला हो चुका था। इस पहल से उनका हौसला तो बढा परन्तु उनका कहना है कि वह बार–बार तो यूं मुख्यमंत्री या प्रध ानमंत्री से नहीं मिल सकती हैं। मेरा सवाल यह है कि क्या हमें वास्तव में केवल अपनी पंचायत की सत्ता नहीं मिल सकती है? क्यों गांव का काम कराने के लिये मुख्यमंत्री का दखल महत्वपूर्ण है? अपनी आंख में भरपूर आत्मविश्वास लिए हुए वह महिला कहती हैं कि दो बार सरपंच रहकर अपने उसूलों पर काम करते हुए मैंने केवल एक बार इस्तीफा देने का विचार बनाया था। तब गांव के लोगों ने मेरा साथ दिया था। आज मैं सोचती हूँ कि तब मैं इतनी कमजोर कैसे पड़ गई थी पर अब मैं पीछे हटने वाली नहीं हूं, नेतृत्व संभाला है तो पूरी ताकत से साथ इसे संभालूंगी।

नेतृत्व संघर्ष की इस प्रक्रिया में उन्होंने स्थानीय मुद्दों और समस्याओं को भरपूर तवज्जो दी है। आस–पास के गांवों, राज्य और देश की तरह ही भाटाडांड के सामने भी पानी का संकट है। यहां की धरती में कोयले के भण्डार हैं जिसके कारण भू–जल का सीधा उपयोग इतना आसान नहीं है। एक ओर तो पानी की मात्रा कम है तो दूसरी ओर कोयला भी पानी सोख लेता है। ऐसे में गांव के पांच में से चार हैंडपम्प वक्त–बेवक्त दम तोड़ जाते हैं। साल में छह माह औरतों को पानी के लिए रोज चार–छह किलोमीटर की यात्रा करनी पड़ती है। अब संकट से निपटने के लिए उनकी कोशिशें जारी हैं। पानी सहेजने के लिये उन्होंने 14 पौड़ियां बनवाई हैं। राहत काम में तालाब का निर्माण हुआ है और जब पंचायत निधि में पैसा खत्म हो गया तो सांसद निधि से 40 हजार रुपये स्वीकृत करा कर कुएं का निर्माण कराया। हर दिन किसी न किसी बाधा से जूझने वाली यह सरपंच कहती हैं कि यूं तो आप सारे काम एक हाथ की उंगलियों पर गिन लेंगे, परन्तु उन्हें करवाने के लिए जितने चक्कर हमने जनपद पंचायत (कोतमा) और जिला मुख्यालय शहडोल के लगाये हैं उनकी गिनती असंभव है। बच्चों की शिक्षा के लिए दो प्राथमिक विद्यालय उन्हीं के कार्यकाल में स्थापित हुए हैं।

जब उन्होंने 30 अगस्त 1994 को पचायत का दायित्व संभाला था तब वह लगभग निरक्षर थीं। नेतृत्व संभालते हुए उन्होंने महसूस किया कि निगरानी, पारदर्शिता और आत्मनिर्भरता के साथ काम करने के लिए शिक्षित

होना बहुत जरूरी है। तब उन्होंने अपने बेटे के साथ कुछ सीखने के लिए स्कूल जाना शुरू किया। पांचवी और फिर ओपन स्कूल से दसवीं की परीक्षा उत्तीर्ण की। अब पंचायत के हिसाब–किताब, बैठक के ठहराव– प्रस्ताव और सरकारी आदेशों की भाषा समझने में उन्हें बहुत आसानी होने लगी है।

वे स्वीकार करती हैं कि वह अब भी पूरी तरह से सफल नहीं है। गांव की समस्याओं पर चर्चा कर उनका हल ढूंढने के लिए अब भी गांव वाले एक मंच पर नहीं बैठते हैं। भाटाडांड के लोग लोकतंत्र और ग्रामसभा के सम्बन्ध में यही जवाब देते हैं कि हम गरीबों को क्या मिलता है? जो अधिकार दिये जाने का दावा किया जाता है उनका कहीं दूर तक पता नहीं है। गरीबों की योजनाओं का लाभ भी शक्तिशाली ही हथिया लेते हैं। ऐसे में ग्रामसभा से हमारी एक दिन की मजदूरी का नुकसान भर होता है।

इससे आगे बढ़कर उन्हें भेदभाव पूर्ण पंचायती राज और ग्राम स्वराज अधिनियम के कारण समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। अपने इस कार्यकाल में उन्होंने पंचायत की ओर से जनपद पंचायत को 30 प्रस्ताव पारित कराकर भेजे हैं पर उनके बारे में कोई सूचना पंचायत को नहीं मिली। वह मानती हैं कि प्रशासन किसी भी नजरिये से जवाबदेह नहीं है। यह उसकी ताकत है कि वह चाहे तो ग्रामसभा के प्रस्ताव का जवाब दे, चाहे न दे। उन्हें यह ताकत कानून ने दी है। सरकार ने मूल रूप से पंचायतों और जन प्रतिनिधियों को भ्रष्ट और गैरजिम्मेदार और प्रशासनिक अधिकारियों को ईमानदार– जवाबदेह मानते हुए पंचायतीराज कानून बनाया है। भाटाडांड पंचायत में कुछ परिवार भुखमरी की स्थिति में हैं। ऐसी 13 औरतों को सामाजिक सुरक्षा पेंशन दिलाने के लिए डेढ़ साल पहले जनपद को एक प्रस्ताव भेजा गया था। उनमें से कई औरतें मर चुकी हैं। फिर भी प्रस्ताव पर कोई कार्यवाही नहीं हुई। उनका विचार है कि पंचायत के किसी भी प्रस्ताव पर पन्द्रह दिन में कार्रवाही का प्रावधान करके उसका कड़ाई से पालन कराया जाना चाहिए।

कौशल्या बाई में महत्त्वाकांक्षी नेतृत्व की भावना पैदा हो चुकी है। उसी के आधार पर उन्होंने स्वप्रेरणा से 1998 में एक निर्दलीय के रूप में विधानसभा का चुनाव लड़ा था। वह भले ही हार गई थीं पर अपने दायरे का विस्तार करने में वह सफल रहीं। गांव में कोई भूखा न सोये इसके लिए वह कोशिश करती रहीं हैं। जहां तक गरीबी से निपटने का सवाल है, वह मानती हैं कि इस पक्ष पर काम करने का मतलब है कि हम उन कारणों को मिटा सकें जिनसे गरीबी पैदा होती है और स्थाई बनती है। इस प्रक्रिया में असंवेदनशील

सरकारी व्यवस्था के कारण अधिकारों का सबसे ज्यादा हनन हो रहा है। संघर्ष को अपनी नियति मान चुकी इस सरपंच का कहना है कि केवल 150 रुपये की पेंशन या 35 किलो गेहूं से गांव में भूख की समस्या का सामना नहीं किया जा सकता है। सरकारी योजनाओं ने व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना बढ़ाई है। जिसे पेंशन का लाभ मिलने लगता है उसके लिये सरपंच अच्छा है, नहीं तो भ्रष्टाचारी है। सरकार हर गरीब और जरूरतमंद को तो लाभ देती नहीं है, ऐसे में ज्यादातर गरीब ग्रामसभा या पंचायत पर अविश्वास करते हैं।

ऐसी स्थिति में वह लोगों को जीवनयापन के मामलों में सशक्त बनाने की जरूरत पर बल देती है। इसी दिशा में भाटाडांड पंचायत में सबसे गरीब 15 महिलाओं का स्वयं सहायता समूह बनाया गया, जिसकी अध्यक्ष कौशल्या बाई बनीं। बुनियादी अवधारणा के तहत पहले चरण में समूह की सभी सदस्यों को हर माह 30 रुपये की राशि जमा करनी थी। कौशल्या बाई के लिए यह बहुत कठिन काम था। जहां लोगों के पास खाने के लिये अनाज के दाने न हों, वहां अपना और अपने बच्चों का पेट भरने के बजाय 30 रुपये समूह के खाते में कैसे जमा करतीं? शुरू के कई दिनों तक समूह की सदस्य इसके लिये तैयार नहीं हुई। तब अध्यक्ष ने सबसे पहले यही तय किया कि किसी तरह समूह की बैठक नियमित रूप से होती रहे ताकि एक व्यवस्था बन सके। आखिरकार लगातार प्रयासों के बाद बचत के लिये महिलायें तैयार हुई। शुरू में इस स्वयं सहायता समूह को महिला एवं बाल विकास की ओर से 10 हजार और 15 हजार रुपये की राशि के दलिया की आपूर्ति का काम मिला। इससे उनमें ऊर्जा आई। समूह ने कोतमा से गेहूं खरीदकर उसका दलिया बनवाया और इसे गांव में लाकर पैक करवाया। जब उन्होंने इसे विभाग को सौंपा तो बार–बार इसमें नुक्स निकाले गये। इसके बाद उनसे कहा गया कि पहले समूह दलिया बनाने की मशीन (ग्राइन्डर) खरीदे, अपना भवन बनाये तभी उसे दूसरे आदेश मिलेंगे। यह समूह के सामने बड़ी असमंजस की स्थिति थी। इसके लिये बड़ी धनराशि की जरूरत थी, जो इस समूह के पास उपलब्ध नहीं थी।

अब तक के काम से प्रोत्साहित सभी सदस्यों ने कौशल्या बाई की पहल पर दो–दो सौ रुपये इकट्ठे करना शुरू किया और बैंक में खाता खुलवाया। यहां एक बार फिर कटु अनुभवों का सामना करना पड़ा। कौशल्या बाई को ग्रामीण बैंक के बार–बार चक्कर लगाने पड़ते थे। इसके बाद उन्हें मशीन लगाने के लिये 80 हजार रुपये का कर्ज मिल गया। इसके बाद भी दो माह तक दलिया आपूर्ति का कोई काम नहीं मिला। इधर ब्याज तेजी से बढ़ने

लगा। प्रशासन और विभाग के अधिकारी इस दलिये में से भी अपना हिस्सा चाहते थे। कौशल्या बाई का समूह किसी तरह के भ्रष्टाचार को पोसना नहीं चाहता था। इसके साथ ही बैंक में 20 हजार रुपये की राशि समूह के हिस्से के रूप में पहले जमा करने को कहा जा रहा है। समूह इस स्थिति में कतई नहीं था। समस्यायें थीं कि खत्म होने का नाम नहीं ले रही थी। वह लगातार प्रशासनिक और मुख्य कार्यपालन अधिकारियों के चक्कर लगाती रही पर उनका हक उन्हें नहीं मिल पाया। बहरहाल अपनी खुद की दलिया मशीन लगा लेने के कारण उन्होंने जनपद पंचायत और बाल विकास परियोजना कार्यालय पर दबाव बनाना शुरू किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि भाटाडांड स्वयं सहायता समूह को हर माह 38 क्विंटल दलिये की आपूर्ति का आदेश मिलने लगा। कौशल्या बाई बताती हैं कि 41,800 रुपये की राशि में से दस फीसदी कमीशन के लिये उन पर दबाव बनाया जाता रहा। अब चूंकि हमें आदेश मिल चुका है इसलिये अधिकारी केवल परेशान ही कर सकते हैं, जो वे कर भी रहे हैं। उन्हें परेशान करने के लिए भी निराले तरीके अपनाये गये हैं। वह कहती हैं कि हमें हर माह 38 क्विंटल दलिया तैयार करके देना होता है, परन्तु इसे तैयार करने के लिए हमें पर्याप्त समय नहीं दिया जाता है। आमतौर पर आखिरी तारीख से दो दिन पहले काम पूरा करने के लिए आदेश दिया जाता है। अब अनुमान लगाया जा सकता है कि दो दिन में 38 क्विंटल दलिया और कभी–कभी 76 क्विंटल दलिया किस तरह बनाया जा सकता है। जब हम कौशल्या बाई के समूह के साथ बैठकर बात करते हैं तब पता चलता है कि इतनी उठापटक के बाद एक सदस्य को माह में केवल पाँच सौ रुपये का लाभ मिलता है। पर समूह का सिद्धान्त भी बड़ा ही उल्लेखनीय है। समूह मानता है कि लाभ भले ही कम क्यों न मिले, संतोष की बात यह है कि हमारे क्षेत्र के बच्चों के लिए हम अच्छे से अच्छा दलिया बनाकर उपलब्ध करा रहे हैं।

वह सोचती हैं कि मेरी ही तरह जिले में कोई और पंच या सरपंच हो सकती है, जो इस तरह की व्यवस्था से जूझ रही होंगी। अब जरूरत इस बात की है कि मैं उनके सम्पर्क में आऊं और हम मिलकर एक संघ बनायें। यह संघ नेतृत्व के अधिकारों के अवसरों की तलाश करके रणनीति बनायेगा। वहीं गांव की महिलाओं का एक समूह कहता है कि हमने तो गांव की सत्ता गांव की बहू को सौंप दी है। अब उसे तय करना है कि सबका भला कैसे हो?

कौशल्या बाई की कहानी में एक और सवाल छिपा हुआ है। वह सवाल

यह है कि क्या उन्हें परिवर्तन के लिये केवल इसलिए संघर्ष करना पड़ रहा है क्योंकि वह एक सरपंच हैं? या फिर एक महिला सरपंच होने के कारण उनकी राह में बाधायें खड़ी की गई हैं। महिला नेतृत्व का प्रश्न इतनी आसानी और सद्भावना के साथ स्वीकार नहीं होगा। सत्ता पर सम्पन्नता के नियंत्रण की मानसिकता आज की नहीं है। हमेशा से ही इसके पक्ष में तर्क दिये जाते रहे हैं। जहां तर्क से काम नहीं चला वहां दमन–उत्पीड़न को हथियार बनाकर राजनैतिक सत्ता में महिलाओं को दरकिनार कर दिया गया। कौशल्या बाई बड़ी ही धैर्य के साथ तमाम विपरीत परिस्थितियों का सामना कर रही हैं। उनके परिवार और गांव के लोगों के विश्वास ने उनकी क्षमता को बढ़ाया है। इस बात की पूरी संभावना है कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में कौशल्या बाई की भूमिका से एक नया गांव पैदा हो सकता है।

कुल मिलाकर यह कौशल्याबाई की जिन्दगी के कुछ सालों की कहानी है। जो उससे शुरू होकर उसी पर खत्म नहीं होती। यह कहानी बताती है कि कौशल्याबाई के पति, सास, पंचायत के सचिव, जनपद के मुख्य कार्यपालन अधिकारी, जिले के कलेक्टर और राज्य के मुख्यमंत्री के लिए एक जिम्मेदार जन प्रतिनिधि से पहले वह एक औरत है। जब भी वह इन अधिकारियों के सामने खड़ी होगी तो कभी भी सबसे पहले उसे सरपंच की हैसियत से नहीं, बल्कि एक औरत की नजर से ही देखा जायेगा। सचिव यही सोचता है कि कौशल्याबाई कभी भी राहत कार्य के लिए आए अनाज का गुणा–भाग करके उसका भ्रष्टाचार नहीं पकड़ पायेगी। और राज्य का मुख्यमंत्री सोचता है कि कौशल्या बाई को अपने पैरों पर खड़े होने के लिए सहारे की जरूरत है। वह तभी राजनैतिक व्यवस्था में महिलाओं को दिये गए आरक्षण को सही सिद्ध कर पायेगी। एक औरत होने के नाते वह बिना सहारे सत्ता में अपना सार्थक नेतृत्व सिद्ध नहीं कर सकती। ऐसे में क्या यह नहीं माना जा सकता है कि औरत की गरीबी आदमी की गरीबी से बदतर है।

OOO

700 मर गए अखबार कहता है

खंडहर और लाश दूरदर्शन दिखाता है

बहुत–सी खबरें मेरे अंदर से उठती हैं

सब को चीर कर हरहराती...

• रघुबीर सहाय

भूख की राजनीति

भरपेट रोटी का मुद्दा वैसे तो गरीबी और अमीरी के बीच में बांट दिया गया है, परन्तु यह एक सतही सिद्धान्त है कि आर्थिक संकट ही सतत् भुखमरी का कारण है। किसी भी परिस्थति में यह नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है कि हमारा समाज अमीर और गरीब वर्गों में केवल एक निहित उद्देश्य के तहत बंटा हुआ है। यथार्थ यह है कि यह समाज औरत और पुरुष के बीच में बंटा हुआ है। यह विभाजन पितृसत्तात्मक, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक संदर्भों में एक अमानवीय व्यवस्था को स्थापित करता है। अगर भूख और गरीबी महज एक आर्थिक मुद्दा है तो सवाल यह है कि खेती के पूरे काम का तीन–चौथाई हिस्सा अकेले पूरा करने वाली औरत ही अब शारीरिक रूप से सबसे कमजोर क्यों है? क्यों 70 फीसदी महिलायें खून की कमी और कुपोषण की शिकार हैं? वास्तव में अपने पुरुषत्व के दंभ को सिद्ध करने के लिए, शोषण समाज के व्यावहारिक चरित्र का एक हिस्सा बन गया। वह जानता है कि जीवन के कई दौर में उसे अपनी हिंसा को चरितार्थ करने और यौनिकता को अपने पक्ष में करने के लिए किसी स्थाई शिकार की जरूरत

है जिस पर उसका सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक नियंत्रण हो। जिसे प्रेम करने से लेकर, उसकी कोख पर नियंत्रण रखने, उसके सोने, जागने, पहनावे से लेकर उसके जीवन की अंतिम क्रिया तक पर पुरुष का ही सामाजिक और कानूनी हक हो। ...और इस व्यवस्था को एक पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था का रूप दे दिया गया।

पुस्तक 'भला ये जेंडर क्या क्या है?' में कमला भसीन ने कलाडिया वॉन वर्लहॉफ का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ऐतिहासिक रूप से, किसी सामाजिक व्यवस्था ने, लिंगों के बीच के प्राकृतिक अंतर को इस बर्बरता और सोचे–समझे ढंग से नहीं बढ़ाया और तोड़ा–मरोड़ा है जैसा कि हमारी व्यवस्था ने।

इस व्यवस्था ने पहले प्राकृतिक लिंग को बनावटी और सामाजिक लिंग में बदला, मर्दों को 'मर्द' बनाया और औरत को 'औरत'। सच तो यह है कि 'मर्द' मानव जाति बन गये तथा औरतें सिर्फ एक लिंग रह गई। ...और अंत में इन फर्कों को पैदा करने के बाद उन्हें प्राकृतिक घोषित कर दिया गया ताकि उनका आर्थिक शोषण भी किया जा सके।

इसी पुस्तक में मारिया मीस का भी उल्लेख है; जो कहती हैं कि यौन शोषण, मुख्यतः बलात्कार के रूप में शासक वर्ग द्वारा शोषित वर्ग को सबक सिखाने तथा अनुशासन में रखने का जरिया है। विद्रोही गरीब किसानों और भूमिहीन मजदूरों को सजा देने के लिये जमींदार और पुलिस उनके साथ मार–पीट करने और झोंपड़े जला देने से संतुष्ट नहीं होते। अनेक मामलों में उनकी औरतों के साथ बलात्कारों के पीछे दमित यौन इच्छाओं का फूटना ही नहीं होता जैसा कि आमतौर पर माना जाता है। सच तो यह है कि इस तरह की हरकतों के पीछे यौनिकता होती ही नहीं है और न ही औरतों से दुश्मनी। बल्कि यह गरीब वर्ग के मर्दों को सजा देने का ढंग है। अपनी सत्ता और प्रभुता को स्थापित करने का तरीका है। चूंकि औरतों को गरीब मर्दों की सम्पत्ति के रूप में देखा जाता है, उनका बलात्कार करके गरीब मर्दों को सबक सिखाया जाता है कि उनकी स्थिति पूरी तरह लाचारगी और सम्पत्तिहीनता की है। ...'जो जमीन का मालिक होता है वही यहां की औरतों का मालिक भी होता है।'

बात अब भूमण्डलीकरण तक हो चुकी है। मसला केवल गरीब और अमीर के बीच का नहीं है। अहम् मसला औरत और मर्द के बीच का है। बहुत ही सुनियोजित ढंग से यह स्थापित कर दिया गया है कि औरत समाज में उत्पादक की भूमिका नहीं निभाती है; वह तो घर पर रहती है। उत्पादक तो

पुरुष है। वह घर के बाहर संघर्ष करता है, मेहनत करता है और तब जाकर कहीं घर में चूल्हा जलता है। बहुत ही व्यावसायिक चतुराई से समाज ने इस व्यवस्था को हमारे मन–मस्तिष्क का सिद्धान्त बना दिया है। हम यह विश्लेषण करने को तैयार नहीं होते हैं कि जिस बिखरे जीवन को औरत एक रूप देती है उसमें भी संघर्ष है, उसमें भी श्रम है, परन्तु उसमें औरत को अपने निर्णय लेने और चुनाव करने की स्वतंत्रता नहीं है।

वह कौशल सम्पन्न है पर घर की देहरी नहीं लांघ सकती। इससे परिवार के सम्मान को ठेस लगेगी। परिवार के सम्मान का यह सिद्धान्त बहुत ही सोचा–समझा षडयंत्र है। इस सम्मान को बचाने के लिए उसे घूंघट में रहना होगा। घूंघट की परम्परा को निभाने के लिए उसे चहारदीवारी में रहना होगा। चहारदीवारी में रहकर उन्हीं दायित्वों का निर्वहन करना होगा; जो दायित्व पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने उसके लिए तय किये हैं। यह समाज जानता है कि उसे अवसर मिलते ही यह जोड़–घटाव भी होगा कि असलियत में उत्पादक की भूमिका निभाता कौन है? और तब पता चल जायेगा कि औरत की मौद्रिक उत्पादकता को समाज ने कर्तव्य, दायित्व, लाज, घरेलू काम, संवेदनशीलता, त्याग जैसे ही कई पर्दों के पीछे ढंक दिया है।

वर्ष 1995 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने जो मानव विकास प्रतिवेदन जारी किया उससे यह स्पष्ट होता है कि स्त्री श्रम के मायने क्या हैं। इस प्रतिवेदन ने महिलाओं के अदृश्य, अवचेतन और छिपे हुए काम का मौद्रिक मूल्यांकन करके बताया कि उसकी वार्षिक कीमत 110 खरब अमेरिकी डॉलर होती है। दूसरे मायने में पूरी अर्थव्यवस्था में वह आधे से भी अधिक का योगदान देती है। यह कहना या सिद्ध करना बहुत जरूरी नहीं है कि किस तरह औरत इस सामाजिक व्यवस्था में न केवल प्रत्यक्ष बल्कि अप्रत्यक्ष भूख का जीवन जीती है। मकसद यह है कि हम उस व्यवस्था को जान सकें जिसमें किसी को भूखा रखना वास्तव में सत्ता पर नियंत्रण करने के लिए जरूरी माना जाता है। अर्थव्यवस्था इतनी कमजोर नहीं है कि खाना खरीदा न जा सके; न ही जमीन इतनी बंजर कि अनाज पैदा न किया जा सके। परन्तु सवाल सत्ता का है। यदि भरपेट भोजन मिल जायेगा तो संभव है कि मन और मस्तिष्क स्वस्थ्य होकर अपनी सामाजिक स्थिति पर कुछ विचार करने लग जायेंगे। समानता की बात होगी, समता की बात होगी और होगी क्षमता की बात। निःसंदेह यह हमारे समाज को मंजूर न होगा।

फिर भी हर दौर और कालखण्ड में कभी–कभी ऐसा लगता है मानों ठहरे हुए पानी में किसी ने पत्थर फेंका हो। इससे कुछ हलचल होती है; व्यवस्था

में बदलाव की उम्मीद जागती है पर फिर सब कुछ वैसा ही चलने लगता है। समाज, बदलाव की बेला में केवल बदलाव लाने वालों को ही दण्डित नहीं करता है बल्कि वह बदलाव चाहने वालों की भी खबर लेता है। अब केवल महिलायें ही दण्डित नहीं होती हैं बल्कि उनके साथ खड़े पुरुष भी सत्ता की इस व्यवस्था में दण्ड के अधिकारी बनने लगे हैं।

अगर सरकारी व्यवस्था पर एक नजर डाली जाये तो उसका नजरिया समझने के लिये बहुत दूर नहीं जाना पड़ेगा। जब हम सरकार की नीति के अन्तर्गत सामाजिक सुरक्षा को पारिभाषित करते हैं तो स्पष्ट होता है कि औरतों के लिए सामाजिक सुरक्षा के मायने उसके निराश्रित होने या विकलांग होने तक ही सीमित है। जब उसे 150 रुपये प्रति माह की पेंशन मिलने लगता है तो वह इसकी हकदार नहीं रह जातीं। सामाजिक नजरिये से यह पेंशन उन्हें और अधिक वंचित और उपेक्षित कर देती है। इस पेंशन की पात्रता के साथ ही उनकी व्यापक समाज से जुड़ी हुई पहचान पूरी तरह से खत्म हो जाती है। तत्कालिक जरूरत को पूरा करने के उद्देश्य से शुरू हुई इस तरह की योजनाएं अब सामाजिक जरूरत बन गई हैं। फिर भी सरकार का दावा होता है कि वह भुखमरी रोकने के जतन कर रही है।

इसके साथ ही एक पक्ष यह भी है कि तेज विकास की प्रक्रिया में स्त्री का विकास और पुरुष के विकास की परिभाषा में भी लैंगिक भेद है। जब विकास की परिभाषा में कृषि, बागवानी, ट्रेक्टर या इसी तरह की ठोस जरूरतों के लिये योजनाओं की बात होती है तो पूरा 100 फीसदी हिस्सा पुरुषों के खाते में ही जाता है। औरतों को सूची में रखने का 'जोखिम' न सरकारी कर्मचारी उठाना चाहता है न ही ऋण देने वाले बैंक का प्रबंधक। वहीं दूसरी ओर बहुत दबाव के बाद जब सरकार को लगने लगा कि अब औरतें भी राजनीति के चेहरे को पहचानने लगी हैं तो शुरू हो गये आय संवर्धन कार्यक्रम। इन कार्यक्रमों का रूप भी 'स्त्रीयोचित' ही रखा गया। औरतों की बात हो रही है इसलिए सहायता मिलेगी, अचार, बड़ी, पापड़ या सिलाई, कढाई के काम के लिए। मध्यप्रदेश में महिलाओं ने ऐसे में 2700 लाख रुपये इकट्‌ठे किये हैं, परन्तु एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जहां पर उन्हें खेत का अधिकार या निर्माण कार्य का ठेका मिला हो।

काम का भेदभाव भी बहुत सोच समझ के साथ किया जाता है। जिस काम में गति है, भ्रमण है, रोचकता है, वह काम पुरुष करता है। जो काम उबाऊ है, नीरस है और मेहनत वाला है वह औरतों के हिस्सों में आता है। खेती का ही उदाहरण लें। मर्द जब पानी ढोयेगा तो वह या तो ट्रेक्टर पर

ढोयेगा या फिर बैलगाड़ी पर। महिला ढोयेगी तो सिर पर तीन मटके रखकर पैदल चल पड़ेगी। धान की बुआई और कटाई महिला करेगी क्योंकि घुटनों–घुटनों पानी में कमर झुकाकर यह काम करना होता है। पुरुष इसी फसल को ट्रेक्टर पर लादकर मण्डी या बाजार में बेचने चल देगा।

क्योंकि संसाधनों पर मालिकाना हक औरत का हो ही नहीं सकता। आज जब हम इस सवाल पर फिर नजर डालते हैं तो पता चलता है कि सरकार तो औरतों को खेत का हक नहीं दिला पाई। और तो और, जब न्यायालय ने ऐसा किया तो व्यवस्था में बैठे पुरुषों ने अपनी व्यक्तिगत भूमिकायें निभाना शुरू कर दी। आमतौर पर मर्द को ही घर का मुखिया माना जाता है और मुखिया को ही कर्ज लेने, निर्णय लेने का अधिकार होता है। तो स्वाभाविक है कि संसाधनों पर पुरुष मुखिया होने के नाते अपना अधिकार तो नहीं ही छोड़ सकता है।

समाज ने पितृसत्ता के हितों को ध्यान में रखते हुए एक दमनकारी व्यवस्था का निर्माण किया है। इस व्यवस्था में लड़की या महिला कभी भी इंसान नहीं होती है। वह या तो एक जिम्मेदारी होती है, एक दायित्व होती है या फिर एक दासी होती है। जिसे कभी भी अपनी मर्जी से भ्रमण करने, मर्जी का खाना खाने, मर्जी से सोने या सम्पत्ति में हक पाने का नैसर्गिक या सामाजिक अधिकार नहीं है। जैसे–जैसे स्त्री की उम्र बढ़ती जाती है उसकी भूमिकायें बदलती जाती हैं। उसका सार्वजनिक दायरा तो बढ़ता जाता है परन्तु निजी दायरा सीमित होता जाता है। वह फिर केवल एक व्यक्ति नहीं रह जाती है। वह कई रिश्तों के जाल में उलझा दी जाती है। बेटी से लेकर बहन, मां, भाभी, सास आदि भूमिकायें उसकी स्वतंत्रता को बंधन में बांधती जाती है। शुरुआती दौर में तो वह कर्तव्यों की पालनकर्ता होती है पर फिर वह उन कर्तव्यों की संरक्षक होती जाती है। बहुत ही आश्चर्यजनक लगता है यह जानकर कि एक लड़की अपनी कम उम्र में जब लगातार अपनी मां को ऐसी सामाजिक–पारिवारिक भूमिकायें निभाते हुए देखती है तो वह मन–मस्तिष्क में एक निष्कर्ष पर पहुंचती है कि यही उसका जीवन है और उसे भी इसी तरह अपने भविष्य का ताना–बाना बुनना है। और शुरू हो जाता है असंतुलन का एक नया अध्याय।

औरत के जीवन का वह चित्र किसी भी समुदाय या प्रदेश में रंग नहीं बदलता है जिसमें उसे सबसे बाद में बचा–खुचा भोजन खाते हुए दिखाया जाता है। पोषण महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है कि वह बासी भोजन को व्यर्थ जाने से बचायेगी। जिस सामाजिक और पारिवारिक पर्यावरण में वह

रहती है, वह पर्यावरण उसके दुखदायी भविष्य की रूपरेखा तैयार करता है। पोषण, सुरक्षा, मनोरंजन और स्वतंत्रता के अभाव में एक बीमार जीवन पनपने लगता है। यही जीवन वृद्धावस्था में हर तरह से असुरक्षित होता है। प्रजनन अपने आप में प्रकृति की सबसे सार्थक और रचनात्मक विशेषता है। स्त्री उस विशेषता की वाहक है किन्तु वास्तविकता यह है कि यही विशेषता उसके लिये सबसे ज्यादा पीड़ादायक क्षण पैदा करती है। शरीर का दर्द हो, चाहे मन की पीड़ा या फिर समाज की शंकायें; सब कुछ प्रजनन से ही जुड़ा हुआ है। सच यह है कि 43 फीसदी महिलाओं का ही प्रसव प्रशिक्षित दाई करवाती हैं और 57 प्रतिशत को किसी तरह की चिकित्सा सुविधा उपलब्ध करवाने की जरूरत महसूस नहीं की जाती। हर दस हजार महिलाओं में से 54 महिलायें प्रसव के दौरान जीवन त्याग देती हैं और हर 48 में से एक महिला की मृत्यु का कारण भारत में गर्भावस्था या प्रजनन से जुड़ी समस्यायें होती हैं। माहवारी का मामला हो चाहे प्रजनन का, उसके जीवन का तीस फीसदी भोजन परम्परा, मान्यताओं और रूढ़ियों से तय होता है; जिनके मानवीय होने पर बहुत बड़े सवाल हैं। यह स्थिति बहुत गंभीर है क्योंकि उसे पोषण का अधिकार नहीं है।

○○○

वह एक पहेली

पहेली है यह पर बूझने की नहीं
सवाल है यह पर इसका कोई जवाब नहीं।
बात मेरी अपनी तो है पर
ताकत उसे स्वीकारने की नहीं।

खलिहान भरे हैं भरपूर मेरे खेत के
पर प्रतिबंध है उसके भरपेट खाने पर।
अपराध है व्यवहार मेरा
पर कटघरे में खड़े होने को मैं तैयार नहीं।
थक कर चूर हो जाना हर शाम का परिणाम है
पर अपराध है उसका देर से सोकर उठना।
मन तो उसका भी चंचल है पर
खुलकर विचरण करना उसका अधिकार नहीं।
सत्ता में खोजने जो ग़या उसे
लम्बे समय तक वह घर को लौट नहीं पायेगा।
उसे हक नहीं है सपने देखने का
दर्द से अगर कराहे तो उसे सहलाया नहीं जायेगा।
श्रम उसके जीवन की सच्चाई है पर
याचक बने रहे वह नियति हमने उसकी बनाई है।
उससे मेरे सम्बन्ध बराबरी के नहीं
मलिक और गुलाम के हैं।
है वह मेरे ही समाज का हिस्सा, मुझसे बेहतर
पर स्वाद उसने स्वतंत्रता के चखे नहीं।
मेरे आनंद का स्रोत भी है वही
पर आनंद का असहास उसे मैंने होने दिया नहीं।
घर में वह रहे, या रहे चौखट के बाहर
उसके चारों ओर षडयंत्रों का जाल है।
उसकी जुबां से गर फूट पड़े हक का सवाल
उसके स्वतंत्र होने पर सत्ता में बवाल है।
सुबह से शाम और शाम से सुबह
जिन्दगी उसकी इंतजार की मिसाल है।
अब भी क्या वह एक पहेली है,
अभी क्या वह केवल एक सवाल है?

○○○

...ये सारा कागज का दौर है
अब उस आखिरी दौर को देखिए।
पेट रोटी से खाली
जेब पैसे से खाली
बातें बसीरत[1] से खाली।
वादे हकीकत से खाली।
दिल दर्द से खाली
दिमाग अक्ल से खाली।
शहर फ़रजानों से खाली...

• इब्ने इंशा

○○○

1. समझदारी

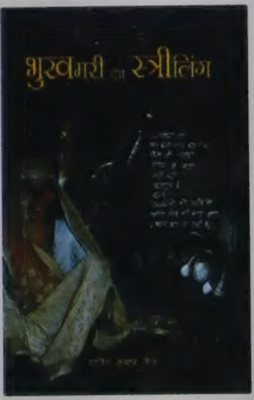

जो पुस्तक आपके हाथ में है, वह समाज द्वारा तय किये गये मापदण्डों के आधार पर औरतों के साथ होने वाले अमानवीय भेदभाव को महसूसने की कोशिश में किया गया प्रयास है। यह भेदभाव घर, परिवार, समाज, राजनीति, व्यवहार और विचारधारा में इतने गहरे तक पैठ बना चुका है कि उसे हम नंगी आंखों से नहीं देख सकते। उसे महसूसने के लिए हमें अपने अहम को छोड़कर अस्तित्व को दांव पर लगाना होगा।

सचिन कुमार जैन (जन्म 8 जून 1973), समाजशास्त्र एवं पत्रकारिता–जनसंचार में स्नातकोत्तर उपाधि। पिछले 10 वर्षों से विकास, जन मुद्दों एवं संचार के परस्पर सम्बन्धों पर काम कर रहे हैं। अब तक विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में खाद्य सुरक्षा, गरीबी, पानी, संचार और आदिवासी समुदाय से जुड़े विषयों पर लगभग 700 आलेख और फीचर प्रकाशित। फिलहाल भोपाल (मध्यप्रदेश) में 'विकास संवाद' नामक प्रयास का समन्वय करते हुए भोजन का अधिकार अभियान के साथ काम कर रहे हैं।

BfC
बुक्स फॉर चेंज
किताबें नहीं, आंदोलन

ISBN 81-89164-15-5
9 788189 164157